

आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलिः ।

ग्रन्थाङ्कः ५० ।

यतीन्द्रमतदीपिका ।

मूल्यं रुपकद्वयम् (२)

आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलिः ।

ग्रन्थाङ्कः ५०

महामहोपाध्यायाभ्यंकरोपाह्ववासुदेवशास्त्रिविरचितप्रकाशा-
ख्याख्याख्यासमेता

श्रीनिवासदासविरचिता

यतीन्द्रमतदीपिका ।

श्रुत्यादिवर्णानुक्रमादिभिः सनाथीकृता ।

एतत्पुस्तकं

महामहोपाध्यायाभ्यंकरोपाह्ववासुदेवशास्त्रिभिः संशोधितम् ।

तच्च

बी. ए. इत्युपपदधारिभिः

विनायक गणेश आपटे

इत्येतैः

पुण्याख्यपत्तने

श्रीमन् ' महादेव चिमणाजी आपटे ' इत्यभिधेय-

महाभागप्रतिष्ठापिते

आनन्दाश्रममुद्रणालये

आयसाक्षरैर्मुद्रयित्वा

प्रकाशितम् ।

द्वितीयेयमङ्कनाट्टितः ।

शालिवाहनशकाब्दाः १८५६ ।

ख्रिस्ताब्दाः १९३४ ।

अथ सर्वेऽधिकारा राजशासनानुसारेण स्वायत्तीकृताः) ।

मूल्यं सपादरूप्यक (१०४) ।

एतत्पुस्तकम्—

—०:०:—

श्रीमद्गुरुवर्यपरमपूज्यव्याकरणन्यायवेदान्ताद्यनेकशास्त्रालंकृतभारतीकवि-
द्वन्मान्यपरमवैराग्यसंपन्नाविद्यादानैकभवणरामशास्त्रिचरणेषु
तच्छात्रान्तर्गतेन कृपाभिलाषिणा टीकाकृता
परमादरनमनापूर्वकं समर्पितम् ॥

==

आदर्शपुस्तकोल्लेखपत्रिका ।

—:~:—

अथैतस्या यतीन्द्रमतदीपिकायाः पुस्तकामि थैः परहितैकपरतया संस्कर-
णार्थं प्रदत्तानि तेषां नामादीनि पुस्तकानां संज्ञाश्च कृतज्ञतया प्रदर्शयन्ते—

क. इति संज्ञितम्—मूलं संपूर्णमानन्दाश्रमस्थम् ।

ख. इति संज्ञितम्—मूलं प्रथमपृष्ठरहितं डेकनकॉलेजसंज्ञकपाठशालास्थ-
पुस्तकसंग्रहालयालब्धम् ।

ग. इति संज्ञितम्—मूलं संपूर्णं तैलङ्गलिप्यां मुद्रितं डॉ. भाण्डारकर
इत्येतेभ्यो लब्धम् ।

घ. इति संज्ञितम्—मूलं संपूर्णं काश्यां मुद्रितं डॉ. भाण्डारकर इत्ये-
तेभ्यो लब्धम् ।

===

अथ सटीकयतीन्द्रमतदीपिकाया

विषयानुक्रमः ।

| प्रथमोऽवतारः । | | | | द्वितीयोऽवतारः । | | | | |
|--------------------------------------|-----|-----|------------------------------|------------------|-----|-------------------------|-----|-----|
| | पृ० | पं० | | पृ० | पं० | | पृ० | पं० |
| मङ्गलाचरणम् | १ | १ | तत्खण्डनम् | ११ | १२ | अनुमाननिरूपणम् ... | १८ | २ |
| पदार्थानामुद्देशः..... | २ | ७ | सत्ख्यातिनिरूपणम् ... | १२ | १ | उपाधिनिरूपणम् | १८ | ११ |
| प्रमाणलक्षणम् | ३ | १३ | शुक्तिरजतादिज्ञानस्य सत्य० | १२ | ३ | उपाधेर्द्वैविध्यम् | १९ | १ |
| अव्याप्त्यादिस्वरूपम् ... | ४ | २ | स्वामज्ञानस्य सत्यत्वम् | १२ | ५ | पञ्चरूपकथनम् ... | १९ | ९ |
| करणलक्षणम् | ४ | ६ | पित्तजन्यज्ञानस्य सत्यत्वम् | १२ | ७ | पक्षादिलक्षणम् | १९ | १० |
| प्रत्यक्षलक्षणम् | ४ | १० | औपाधिकज्ञानस्य सत्यत्वम् | १३ | १ | केवलव्यतिरेकिनिरासः | १९ | २१ |
| निर्विकल्पकस्यापि सविशेष- | | | मरीचिकाज्ञानस्य सत्यत्वम् | १३ | २ | पञ्चावयवाः | २० | ७ |
| विषयत्वम् | ५ | ४ | दिग्भ्रमे ज्ञानस्य सत्यत्वम् | १३ | ३ | हेत्वाभासनिरूपणम् | २१ | ७ |
| इन्द्रियाणां संबद्धवस्तुप्रका- | | | अलातचक्रादिज्ञानस्य सत्य- | | | | | |
| शकत्वम् | ५ | ६ | त्वम् | १३ | ४ | | | |
| विषयेन्द्रियसंनिकर्षः | ६ | १ | प्रतिबिम्बज्ञानस्य सत्यत्वम् | १३ | ६ | | | |
| स्मृतेः प्रत्यक्षेऽन्तर्भावः | ७ | ३ | द्विचन्द्रज्ञानस्य सत्यत्वम् | १३ | ८ | | | |
| संस्कारोद्बोधकारणानि.... | ७ | ६ | शब्दस्य न प्रत्यक्षजनकत्वम् | १४ | ७ | | | |
| प्रत्यभिज्ञायाः प्रत्यक्षेऽन्तर्भावः | ८ | १ | जातिरेव भेदः | १४ | १७ | | | |
| अनुपलब्धेः प्रत्यक्षेऽन्तर्भावः | ८ | २ | परोक्तनिर्विकल्पकनिरासः | १६ | १ | | | |
| ऊहादीनां प्रत्यक्षेऽन्तर्भावः | ८ | ४ | वेदस्यापौरुषेयत्वम् ... | १६ | १७ | | | |
| सर्वं विज्ञानं यथार्थम् | ८ | ६ | ईश्वरानुमानखण्डनम् ... | १७ | १० | | | |
| आत्मख्यातिः | ९ | ५ | | | | | | |
| तत्खण्डनम् | ९ | ८ | | | | | | |
| असत्ख्यातिः | ९ | २७ | | | | | | |
| तत्खण्डनम् | ९ | २९ | | | | | | |
| अख्यातिः | १० | ७ | | | | | | |
| तत्खण्डनम् | १० | ९ | | | | | | |
| अन्यथाख्यातिः..... | १० | २१ | | | | | | |
| तत्खण्डनम् | १० | २६ | | | | | | |
| अनिर्वचनीयख्यातिः | ११ | ४ | | | | | | |

| | पृ० | पं० | | पृ० | पं० |
|-------------------------------|-----|-----|---------------------------|-----|-----|
| उपमानस्यानुमानादावन्त- | | | अभावनिरासः | ३६ | ३ |
| भावः | २२ | ९ | षट्द्रव्याणि | ३६ | ८ |
| अर्थापत्तेरनुमानेऽन्तर्भावः | २३ | ६ | प्रकृतिनिरूपणम् | ३६ | १० |
| तर्कनिश्चयवादजल्पवितण्डाच्छ- | | | महत्तत्त्वनिरूपणम् | ३७ | २ |
| लजातिनिग्रहस्थानलक्षणानि | २३ | ६ | अहंकारनिरूपणम् | ३७ | ३ |
| तृतीयोऽवतारः । | | | अहंकारभेदाः | ३७ | ४ |
| शब्दप्रमाणलक्षणम् | २५ | ७ | इन्द्रियलक्षणम् | ३७ | ८ |
| वेदस्य प्रामाण्यम् | २५ | ८ | ज्ञानेन्द्रियलक्षणम् | ३७ | ९ |
| ऋगादिभेदाः | २७ | १० | मनोनिरूपणम् | ३७ | १० |
| यन्त्रलक्षणम् | २७ | ११ | इन्द्रियाणां भौतिकत्वानि- | | |
| अर्थवादलक्षणम् | २७ | ११ | रासः | ३८ | ४ |
| विधित्रैविध्यम् | २८ | १ | विषयेन्द्रियसंबन्धः | ३८ | ५ |
| स्मृतेः प्रामाण्यम् | २९ | १ | कर्मेन्द्रियलक्षणम् | ३८ | ७ |
| इतिहासपुराणयोः प्रामाण्यम् | २९ | ४ | इन्द्रियाणां जीवने सह गम- | | |
| पुराणेषु सात्त्विकराजसताम- | | | नम् | ३२ | ६ |
| सभेदाः | २९ | ६ | पञ्च तन्मात्राणि | ४० | ४ |
| पञ्चरात्रस्य प्रामाण्यम् | ३० | २ | पञ्च भूतानि | ४० | ७ |
| धर्मशास्त्रादीनां प्रामाण्यम् | ३१ | २ | आकाशलक्षणम् | ४० | ९ |
| चतुःषष्टिकलानिरूपणम् | ३१ | ५ | आकाशप्रत्यक्षम् | ४० | १० |
| आकाङ्क्षादिनिरूपणम् | ३२ | ४ | आकाशस्य रूपवत्त्वम् | ४० | १० |
| योगरूढ्यादिनिरूपणम् | ३२ | ७ | आकाशस्य जन्यत्वम् | ४० | १० |
| वाक्यस्य सविशेषविषयत्वम् | ३३ | १ | दिङ्निरासः | ४० | १२ |
| सर्वशब्दानां नारायणे पर्यव- | | | वायुलक्षणम् | ४१ | ३ |
| सानम् | ३३ | ४ | वायुप्रत्यक्षम् | ४१ | १० |
| चतुर्थोऽवतारः । | | | तेजोलक्षणम् | ४२ | १ |
| प्रमेयनिरूपणम् | ३४ | ७ | तेजोभेदाः | ४२ | ४ |
| नैयायिकोक्तकर्मनिरासः | ३४ | ११ | अपां लक्षणम् | ४२ | १३ |
| सामान्यनिरासः | ३५ | १ | पृथिवीलक्षणम् | ४२ | १८ |
| समवायनिरासः | ३५ | २ | तमसः पृथिवीत्वम् | ४३ | २ |
| विशेषनिरासः | ३५ | ३ | पञ्चकरणम् | ४३ | ६ |

| | पृ० | पं० |
|--------------------------------|-----|-----|
| सप्तांकरणम् । | ४४ | ४ |
| शरीरलक्षणम् | ४४ | ७ |
| परोक्तशरीरलक्षणनिरासः | ४५ | २ |
| शरीरभेदाः | ४६ | १ |
| परोक्ततत्त्वनिरासः | ४७ | ३ |
| परमाणुकारणत्वमिरासः | ४७ | ४ |
| ब्रह्माण्डसंनिवेशः | ४७ | ७ |
| पञ्चमोऽवतारः । | | |
| काललक्षणम् | ४९ | ११ |
| कालस्य नित्यत्वं विभुत्वं च | ४९ | १२ |
| युगपरिमाणम् | ५० | ३ |
| षष्ठोऽवतारः । | | |
| नित्यविभूतिनिरूपणम् | ५१ | ७ |
| शुद्धसत्त्वस्वाजडत्वम् | ५१ | ८ |
| शुद्धसत्त्वस्य नित्यत्वम्.... | ५२ | ६ |
| ईश्वरादिशरीराणि | ५३ | ७ |
| सप्तमोऽवतारः । | | |
| धर्मभूतज्ञाननिरूपणम् | ५६ | २ |
| ज्ञानस्य नित्यत्वम् | ५६ | ४ |
| ज्ञानस्य स्वतःप्रामाण्यम् | ५७ | १ |
| ज्ञानस्य परोक्तक्षणिकत्वा- | | |
| दिनिरासः | ५७ | ४ |
| ज्ञानस्य गुणत्वं द्रव्यत्वं च | ५८ | ३ |
| ज्ञानस्यैव सुखादिरूपत्वम् | ५९ | २ |
| वहूनां जीवगुणानां ज्ञाना- | | |
| वस्थाविशेषत्वम् | ५९ | ८ |
| ज्ञानशक्त्यादिलक्षणम् | ६० | ७ |
| भक्तिप्रपत्त्योः स्वरूपम् | ६१ | ७ |
| कर्माङ्गकज्ञानस्य मोक्षोपाय- | | |
| त्वम्... .. | ६१ | १६ |

| | पृ० | पं० |
|--------------------------------|-----|-----|
| कर्मयोगनिरूपणम् | ६२ | १ |
| ज्ञानयोगनिरूपणम् | ६२ | ५ |
| भक्तियोगनिरूपणम् | ६२ | ८ |
| यमानियमादिनिरूपणम्.... | ६२ | १९ |
| विवेकादिसाधनसप्तकम्... .. | ६३ | १ |
| साधनभक्तिफलभक्तिनिरू- | | |
| पणम् | ६३ | ९ |
| वेदान्तेषु ध्यानस्यैव विद्या- | | |
| नम्... .. | ६४ | १ |
| परोक्तमोक्षोपायनिरासः | ६५ | १ |
| सप्त भङ्गाः | ६५ | १६ |
| अष्टमोऽवतारः । | | |
| जीवेश्वरसामान्यलक्षणम् | ६७ | २ |
| जीवलक्षणम् | ६७ | ५ |
| जीवस्य देहादिभ्यो भिन्न- | | |
| त्वम् | ६७ | ८ |
| जीवस्याणुत्वम् | ६९ | ३ |
| जीवस्य नित्यत्वम् | ७० | २ |
| जीवभेदाः | ७१ | १ |
| जीवस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वादि | ७२ | ३ |
| प्रकाराद्वैतम् | ७२ | ९ |
| प्रकार्यद्वैतम् | ७२ | १५ |
| जीवविषये बौद्धादिमतनि- | | |
| रासः | ७३ | ३ |
| वद्धमुक्तादिभेदाः | ७५ | ७ |
| भक्तद्वैविध्यम् | ७७ | २ |
| पपन्नलक्षणम् | ७७ | ५ |
| पपन्नभेदाः | ७७ | १२ |
| मुक्तस्वरूपम् | ७७ | १८ |
| मुक्तस्य ब्रह्मसाम्यम् | ७८ | १२ |

| | पृ० | पं० | | पृ० | पं० |
|--------------------------|-----|-----|---------------------------|-----|-----|
| नित्यजीवलक्षणम् | ७८ | १७ | दशमोऽवतारः । | | |
| नवमोऽवतारः । | | | अद्रव्यनिरूपणम् | ९० | १ |
| ईश्वरलक्षणम् | ७९ | ७ | सत्त्वलक्षणम् | ९० | ३ |
| ईश्वरस्य जगदुपादानत्वादि | ७९ | ९ | रजोगुणलक्षणम् ... | ९१ | ३ |
| उपादानादिलक्षणानि | ८१ | १ | तमोगुणलक्षणम्.... | ९१ | ४ |
| नारायणे कारणत्वपर्यव- | | | शब्दलक्षणम् ... | ९१ | ११ |
| सानम् | ८१ | ९ | स्पर्शलक्षणम् ... | ९३ | १ |
| मायावादिमतनिरासः | ८२ | १३ | रूपलक्षणम् | ९३ | ६ |
| ईश्वरस्य विभुत्वम् ... | ८३ | ८ | रसलक्षणम् | ९४ | ४ |
| परव्यूहादिभेदाः.... | ८३ | १९ | गन्धलक्षणम् | ९४ | ९ |
| परलक्षणम् | ८३ | २० | संयोगलक्षणम् ... | ९५ | १ |
| व्यूहलक्षणम् | ८४ | ७ | विभागखण्डनम्... | ९६ | १ |
| विभवलक्षणम् ... | ८६ | ७ | शक्तिलक्षणम् ... | ९७ | १ |
| अन्तर्यामिलक्षणम् | ८८ | २ | इतरगुणानामन्तर्भावः | ९७ | ८ |
| अर्चावतारलक्षणम् | ८८ | ५ | तत्तद्गुणाश्रयोक्तिः ... | १०० | २ |
| | | | तत्त्वैक्यादिनिरूपणम् ... | १०१ | ११ |

समाप्तं विषयानुक्रमणिका ।

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ।

अथ यतीन्द्रमतदीपिका प्रकाशसहिता ।

श्रीवेङ्कटेशं करिशैलनाथं श्रीदेवराजं घटिकाद्रिसिंहम् ।

कृष्णेन साकं यतिराजमीडे स्वप्नेऽद्य दृष्टान्मम देशिकेन्द्रान् ॥ १ ॥

यतीश्वरं प्रणम्याहं वेदान्तार्थं महागुरुम् ।

करोमि बालबोधार्थं यतीन्द्रमतदीपिकाम् ॥ २ ॥

यतीन्द्रमतदीपिकाप्रकाशः ।

प्रणम्य परमात्मानं विश्वेशं सर्वसाक्षिणम् ।

संयुनज्मि प्रकाशेन यतीन्द्रमतदीपिकाम् ॥ १ ॥

दीपिकाऽपि विषयान्न बोधयेन्मन्दबुद्धितिमिरावगुण्डितान् ।

तद्गुणपसरणाय कृतोऽयं यत्न एष तिमिरं विनाशयेत् ॥ २ ॥

न तक्षिणाविषणो न च प्रथितगूढशास्त्रार्थवि-

त्तथाऽपि मुहुरुत्सुको गुरुकृपावलम्बी परम् ।

अशेषजगदाश्रयं परमपूरुषं चिन्तय-

न्यतीन्द्रमतदीपिकां विवृणुयामिति प्रार्थये ॥ ३ ॥

मत्कृतिरियमिति नार्हति संग्रहमेवेति पण्डितैर्मान्यैः ।

न स्वान्ते करणीयं नात्रापूर्वं विलिख्यते किञ्चित् ॥ ४ ॥

श्रीभाष्यादिनिबन्धान्दृष्ट्वा प्रायस्तदीयसिद्धान्तान् ।

तत्तत्प्रसङ्गवशतो विशदीकर्तुं यथामति प्रयते ॥ ५ ॥

तत्रापि यदि भवेयुर्दोषाश्चेतोवधानवैधुर्यात् ।

आलम्ब्यौदासीन्यं स्वी कुर्वन्तु प्रकाशममुमार्थाः ॥ ६ ॥

प्रन्धारम्भे कृतं मङ्गलं शिष्यशिक्षार्थं निबन्धनाति—श्रीवेङ्कटेशपिति ।

श्रीमन्नारायण एव चिदचिद्विशिष्टाद्वैततत्त्वं भक्तिप्रपत्तिभ्यां प्रसन्नः स एवोपायोऽप्राकृतदेशविशिष्टः स एव प्राप्य इति वेदान्तवाक्यैः प्रतिपादयतां व्यासबोधायनगुह्यदेवभारुचिद्विज्ञानन्दिविडार्थश्रीपराङ्कुशनाथवामुनमुनियतीश्वरप्रभृतीनां मतानुसारेण बालबोधार्थं वेदान्तानुसारिणी यतिपतिमतदीपिकारूपा शारीरकपरिभाषा महाचार्यकृपावलम्बिना मया यथामति संग्रहेण प्रकाश्यते ।

सर्वं पदार्थजातं प्रमाणप्रमेयभेदेन द्विधा भिन्नम् । प्रमाणानि त्रिण्येव । प्रमेयं द्विविधम् । द्रव्याद्रव्यभेदात् । द्रव्यं द्विविधम् । जडमजडमिति । जडं च द्विधा । प्रकृतिः कालश्चेति । प्रकृतिश्चतुर्विंशतितत्त्वात्मिका । कालस्तूपाधिभेदात्त्रिविधः ।

अप्राकृतेति । अप्राकृतदेशश्च वैकुण्ठलोकः । प्रकाश्यत इति ।

दशावतारा ग्रन्थेऽस्मिन्ग्रन्थकारेण निर्मिताः ।

प्रमाणत्रितयद्रव्यषट्काद्रव्यविभागतः ॥ १ ॥

प्रमाणं प्रथमे प्रोक्तं प्रत्यक्षं स्मरणं तथा ।

द्वितीयेऽनुमितिव्याप्तिहेत्वाभासा निरूपिताः ॥ २ ॥

तृतीये प्रमितिः शाब्दी चतुर्थे द्रव्यलक्षणम् ।

चतुर्विंशतितत्त्वानामुत्पत्तिश्चैव वर्णिता ॥ ३ ॥

पञ्चमे लक्षितः कालस्तद्भेदा अप्युपाधितः ।

नित्या विभूतिः षष्ठे तु सप्तमे बुद्धिलक्षणम् ॥ ४ ॥

अष्टमे वर्णितं जीवस्वरूपं तद्गुणा अपि ।

अवतारे तु नवमे परमात्मनिरूपणम् ॥ ५ ॥

अद्रव्यं दशधा प्रोक्तमवतारे तथाऽन्तिमे ।

एवं दशावतारेषु पदार्था वर्णिताः क्रमात् ॥ ६ ॥

त्रीण्येवेति । प्रत्यक्षानुमानशब्दरूपाणि त्रीण्येवेत्यर्थः । इतरेषामेष्वेवान्तर्भावं वक्ष्यति । चतुर्विंशतितत्त्वेति । प्रकृतिमहदहंकारमनःश्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थशब्दतन्मात्रस्पर्शतन्मात्ररूपतन्मात्ररसतन्मात्रगन्धतन्मात्राकाशवायुतेजोऽपृथिवीरूपाणि चतुर्विंशतितत्त्वानि । उपाधिभेदात् । वर्तमानभूतभविष्यरूपोपाधिभेदात् ।

अजडं तु द्विविधम् । पराकप्रत्यगिति । अजडं परागपि तथा । नित्यविभूति-
 धर्मभूतज्ञानं चेति । प्रत्यगपि द्विविधः । जीवेश्वरभेदात् । जीवस्त्रिविधः ।
 बद्धमुक्तनित्यभेदात् । बद्धो द्विविधः । बुभुक्षुमुमुक्षुभेदात् । बुभुक्षुद्विविधः ।
 अर्थकामपरो धर्मपरश्चेति । धर्मपरो द्विविधः । देवतान्तरपरो भगवत्परश्चेति ।
 मुमुक्षुद्विविधः । कैवल्यपरो मोक्षपरश्चेति । मोक्षपरो द्विविधः । भक्तः प्रप-
 न्नश्चेति । प्रपन्नो द्विविधः । एकान्तो परमैकान्तो चेति । परमैकान्तो द्वि-
 विधः । द्द्वैतार्थभेदात् । पञ्चधाऽवस्थित ईश्वरः । परव्यूहविभवान्तर्याम्यर्चा-
 वतारभेदात् । पर एकधा । व्यूहश्चतुर्धा । वासुदेवसंकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्ध-
 भेदात् । केशवादि व्यूहान्तरम् । मत्स्यादयो विभवाः पुनरनन्ताश्च । अन्त-
 र्यामी प्रतिशरीरमवस्थितः । अर्चावतारस्तु श्रीरङ्गवेङ्कटाद्रिहस्तिगिरियादवा-
 द्रिघटिकाचलादिषु सकलमनुजनयनविषयतां गतो मूर्तिविशेषः । अद्रव्यं
 तु सत्त्वरजस्तमःशब्दस्पर्शरूपरसगन्धसंयोगशक्तिभेदाद्दशैव ।

एवमुपदिष्टानामुद्देशक्रमेण लक्षणापरीक्षे क्रियेते । तत्र प्रमाकरणं प्रमाणम् ।
 प्रमाणं लक्ष्यम् । प्रमाकरणत्वं लक्षणम् । यथावस्थितव्यवहारानुगुणंज्ञानं प्रमा ।
 प्रमा लक्ष्यम् । यथावस्थितव्यवहारानुगुणज्ञानत्वं लक्षणम् । ज्ञानं प्रमेत्युक्ते
 श्रुक्तिकायामिदं रजतमिति ज्ञानेऽतिव्याप्तिरत उक्तं व्यवहारानुगुणमिति ।
 एवमपि तत्रैवातिव्याप्तिभ्रान्तिदशायामपीदं रजतमिति व्यवहियमाणत्वात् ।
 अत उक्तं यथावस्थितमिति । यथावस्थितपदेन संज्ञयान्यथाज्ञानविपरीतज्ञान-
 व्यावृत्तिः । धर्मिग्रहणे मिथोविरुद्धानेकविशेषस्मरणं संज्ञयः । यथोर्ध्वता-
 विशिष्टे स्थाणुर्वा पुरुषो वेति ज्ञानम् । अन्यथाज्ञानं नाम धर्मविपर्यासः ।
 यथा कर्तृत्वेन भासमान आत्मनि कुशुक्तिभिः कर्तृत्वस्य भ्रान्तत्वोपपाद-

तथा द्विविधम् ।

उद्देशक्रमेणेति । नाम्ना पदार्थसंकीर्तनमुद्देशः । लक्षणोति । अव्याप्त्यतिव्या-
 प्यसंभवरूपदोषत्रयरहितधर्मवचनं लक्षणम् । यथालक्षितस्यैतलक्षणमुपपद्यते न वेति
 विचारः परीक्षा । यथावस्थितेति । अवस्थितं वस्त्वनतिक्रम्य यो व्यवहार ' इदम-
 मुक्तं वस्तु ' इत्यादिस्तदनुगुणं तदुपयोगि ज्ञानमित्यर्थः । यथावस्थितेति ज्ञानविशेषणं
 वा । धर्मविपर्यास इति । पीतः शङ्ख इतिवत् । कर्तृत्वेन भासमान इति । स्वर्गापवर्ग-
 साधनानुष्ठानविधानशास्त्राणामर्थवत्त्वाय कर्तृत्वाऽऽत्मेति मन्तव्यम् । प्रकृतेः कर्तृत्वे मोक्ष-
 साधनभूतसमाध्यभावश्च स्यात् । प्रकृतेरन्योऽस्मीति समाधौ प्रकृतेः कर्तृत्वायोगात् ।

१ ग. 'नन्ताः । अ' । २ ग. 'रङ्गादिषु । ३ ग. 'शुभं ज्ञा' । ४ ख. घ. 'स्थितेतिप' । ५
 क. ख. ग. विशेषे स्था' ।

नम् । विपरीतज्ञानं नाम धर्मिविपर्यासः । यथा वस्तुनो वस्त्वन्तरज्ञानम् ।
लक्षणस्य त्रीणि दूषणानि सन्ति । अव्याप्त्यतिव्याप्त्यसंभवभेदात् ।
लक्ष्यैकदेशे लक्षणस्यावर्तनमव्याप्तिः । कपिलवर्णवस्वं गोल्लक्षणामिति लक्षणे
कृते शुक्लायामव्याप्तिः । लक्ष्यादन्यत्र वर्तमानत्वमतिव्याप्तिः । लक्ष्ये काप्य-
विद्यमानत्वसंभवः । यथा चक्षुर्विषयो जीव इत्युक्तेऽसंभव एव । अत्रो-
क्तदूषणत्रयाभावात्प्रमालक्षणं स्वस्थम् । साधकतमं करणम् । अतिशयितं
साधकं साधकतमम् । यस्मिन्सत्यविलम्बेन ज्ञानमुत्पद्यते तदतिशयितामित्यु-
च्यते । तेन प्रमाकरणं प्रमाणामिति सिद्धम् । अनधिगतार्थगन्तु प्रमाणमि-
त्यादिकं तु तत्तद्वादिभिरेव निरस्तत्वाद्नादरणीयम् ।

तानि प्रमाणानि प्रत्यक्षानुमानशब्दाख्यानि त्रीण्येव । अत्र साक्षात्कारि-

तच्च कर्तृत्वं नैमित्तिकमिति गीताभाष्य उक्तम् । तथा च भाष्यम्—‘ आत्मनः
स्वतः परिशुद्धस्वभावस्य पूर्वपूर्वकर्ममूलसङ्गनिमित्तं विविधकर्मसु कर्तृत्वम् ’ (गी०
१४ । १९) इति । धर्मिविपर्यास इति । यथा शुक्लाविदं रजतामित्यत्र । अति-
व्याप्तिरिति । यथा शृङ्गित्वं गोल्लक्षणमिति लक्षणे कृते महिष्यादावतिव्याप्तिः ।
अत्र च लक्ष्ये विद्यमानत्वे सतीत्यपि बोध्यम् । अन्यथाऽसंभवेन संकरः स्यात् ।
तत्रापि लक्ष्यादन्यत्र लक्षणस्य विद्यमानत्वात् । निरस्तत्वादिति । मायावादिनामिदं
लक्षणम् । ‘ अनधिगतार्थगन्तु ’ इत्यनेन स्मृतोर्निरासः । तस्या अधिगतार्थगन्तृत्वात् ।
एतच्च लक्षणं नैयायिकैः खण्डितम् । धारावाहिकबुद्धिस्थले द्वितीयादिज्ञानानामधिग-
तार्थगन्तृत्वाभावेन तल्लक्षणस्याव्याप्तिप्रस्तत्वात् । न चेदानीं घट इत्यादिप्रतीत्या नीरू-
पस्यापि कालस्य षडिन्द्रियवेद्यत्वाम्युपगमेन द्वितीयादिज्ञानानां पूर्वपूर्वज्ञानाविषयतत्त-
लक्षणाविशेषविषयत्वेन न तत्राव्याप्तिरिति वाच्यम् । इदानीं घट इत्यादौ घटोदरेवे-
न्द्रियवेद्यत्वात् । कालस्य तत्त्वाम्युपगमे तु ‘ आकाशे बलाकाः ’ इत्यादिप्रतीत्याऽऽ-
काशस्यापि चाक्षुषप्रत्यक्षविषयतापत्तेः । न चेष्टापात्तिः । मायावादिमत आकाशस्या-
चाक्षुषत्वात् । रामानुजमते धारावाहिकज्ञानस्यैकत्वमाकाशस्य प्रत्यक्षविषयत्वं चास्ती-
त्यन्यदेतत् ।

साक्षात्कारिप्रमेति । साक्षात्कारिणी या प्रमेत्यर्थः । अत्र कोचित्—इन्द्रियजन्या
प्रमा साक्षात्कारिणीत्युच्यते । एतेन प्रत्यक्षज्ञाने जाते साक्षात्त्वज्ञानं जाते च तस्मिन्प्र-
त्यक्षप्रमाणज्ञानमित्यन्योन्याश्रय इत्यपास्तम् । इन्द्रियत्वेन तज्जन्यत्वस्य विवक्षितत्वा-
न्मनोजन्येऽनुमित्यादौ नातिव्याप्तिः शङ्कनीयेति वदन्ति । तच्चिन्त्यम् । मुक्तनित्येश्वर-

प्रमाकरणं प्रत्यक्षम् । अनुमानादिव्यावृत्त्यर्थं साक्षात्कारीति । दुष्टेन्द्रियज-
व्यावृत्त्यर्थं प्रमेति । तच्च प्रत्यक्षं द्विविधम् । निर्विकल्पकसविकल्पकभेदात् ।
निर्विकल्पकं नाम गुणसंस्थानादिविशिष्टप्रथमपिण्डग्रहणम् । सविकल्पकं तु
सप्रत्यक्षमर्थं गुणसंस्थानादिविशिष्टद्वितीयादिपिण्डज्ञानम् । उभयविध-
मप्येतद्विशिष्टविषयमेव । अविशिष्टग्राहिणो ज्ञानस्यानुपलम्भादनुपपत्तेश्च ।
ग्रहणप्रकारस्तु—आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेणोन्द्रियमर्थेन । इन्द्रियाणां
प्राप्यप्रकाशकारित्वनियमात् । अतो घटादिरूपार्थस्य चक्षुरूपेन्द्रियस्य च

ज्ञानेऽव्याप्तेः । तस्येन्द्रियनिरपेक्षत्वात् । साक्षात्त्वलक्षणं तु लैङ्गिकत्वशाब्दत्वस्मृति-
त्वरहितं ज्ञानत्वमिति बोध्यम् । न च वैशद्यमात्रं साक्षात्त्वमिति वाच्यम् । सुषुप्त्या-
दावविश्रुतात्मस्वरूपस्य मानात् । प्रकाशांशवैशद्यस्य परोक्षज्ञानेऽपि सत्त्वाच्च । दुष्टे-
न्द्रियोति । दुष्टेन्द्रियजन्येऽन्यथाज्ञानादौ यथावस्थितव्यवहारानुगुणज्ञानत्वरूपप्रमाल-
क्षणस्याभावात्तेषां प्रमाकरणत्वाभावात् प्रमाणत्वमिति बोध्यम् । निर्विकल्पकं ना-
मेति । केचित्तु जातिगुणद्रव्यादीनामन्योन्यसंबन्धं विना पृथक्पृथगुपलम्भो निर्विकल्प-
कप्रत्यक्षम् । विशिष्टप्रत्यक्षे विशेषणज्ञानस्य कारणत्वात् । दण्डी देवदत्त इतिवदि-
त्याहुः । तत्र । दण्डदेवदत्तयोः पृथग्रहणस्य विशेषणविशेष्यभावप्रयुक्तत्वाभावात् ।
दण्डदेवदत्तयोः संबन्धात्पूर्वं यत्तयोः पृथग्रहणं तत्तयोः संबन्धाभावादेव । संबन्धोत्तरं
तु पृथग्रहणमेव नास्ति । तदानीं विशेषणविशेष्यभावेनैव तयोः प्रतीतत्वात् ।
जातिव्यक्त्योस्तु नियमेन संबन्धादेकसामग्रीवेद्यत्वाच्च तयोः पृथग्रहणं नैव
संभवति । तस्मान्निर्विकल्पकेऽपि संस्थानमेव वस्त्वित्थमिति प्रतीयते । द्वितीया-
दिप्रत्ययेषु तस्यैव संस्थानविशेषस्यानेकवस्तुनिष्ठतामात्रं प्रतीयते । संस्थानरूपप्रकारा-
रूपस्य पदार्थस्यानेकवस्तुनिष्ठतयाऽनेकवस्तुविशेषणत्वं द्वितीयादिप्रत्ययावगम्यमिति
द्वितीयादिप्रत्ययाः सविकल्पका इत्युच्यन्ते । यद्यपि प्रथमपिण्डग्रहणेऽनुवृत्तिर्न प्रती-
यते तथाऽपि जातिः प्रतीयत एव । नह्यनुवृत्तिर्जातिरपि त्वनुवृत्तं संस्थानमेवेति
वेदार्थसंग्रहे स्पष्टम् । ननु प्रथमपिण्डग्रहणजन्यसंस्कारनाशोत्तरं जायमानस्य द्वितीय-
पिण्डग्रहणस्य निर्विकल्पकत्वं स्यात् । तदानीमनुवृत्तेरग्रहणादिति चेदिष्टमेव । द्विती-
यादित्वेन यद्वितीयादिपिण्डग्रहणं तदेव सविकल्पकमित्यर्थस्य विवक्षितत्वात् । इन्द्रि-
याणामिति । तत्र त्वगिन्द्रियं रसनेन्द्रियं च स्वसंबद्धवस्तुप्रकाशकमित्यनुभावादेव
सिद्धम् । दूरस्थगन्धोऽपि वायुवशात्समीपगत एव घ्राणेन्द्रियेण गृह्यत इति
तदपि प्राप्यप्रकाशकार्येव । चक्षुःश्रोत्रविषये त्वनुमानमुच्यते । चक्षुरिन्द्रियं श्रोत्रे-

सन्निकर्षे सत्ययं घटः पट इति चाक्षुषज्ञानं जायते । एवमेव स्पर्शनप्रत्यक्षा-
दयोऽपि । द्रव्यग्रहणे संयोगः संबन्धः । द्रव्यगतरूपादिग्रहणे समवायानङ्गी-
कारात्संयुक्ताश्रयणं संबन्धः । निर्विकल्पकसविकल्पकभिन्नं प्रत्यक्षं द्विवि-
धम् । अर्वाचीनमनर्वाचीनं चेति । अर्वाचीनं पुनर्द्विविधम् । इन्द्रियसापेक्षं
तदनपेक्षं चेति । तदनपेक्षं च द्विविधम् । स्वयंसिद्धं दिव्यं चेति । स्वयंसिद्धं
योगजन्यम् । दिव्यं भगवत्प्रसादजन्यम् । अनर्वाचीनं त्विन्द्रियनिरपेक्षं मुक्त-
नित्येश्वरज्ञानम् । अनर्वाचीनं तु प्रसङ्गादुक्तम् । एवं साक्षात्कारिप्रमा-
करणं प्रत्यक्षमिति सिद्धम् ।

न्द्रियं च प्राप्यप्रकाशकारि, इन्द्रियत्वात्त्वगादीन्द्रियवत् । दूरस्थघटादिभिश्चक्षुषः
संबन्धस्तु वृत्तिद्वारा बोध्यः । इन्द्रियाणां योग्यदेशे वृत्तिप्रसरणात् । स्यादे-
तत् । उन्मिषितमात्रं चक्षुश्चन्द्रं बोधयति । न चैकस्मिन्क्षणे तावान्देशो वृत्त्या
लब्धघटितुं क्षमः । क्रमे तु प्रतिपरमाण्ववच्छेदं विलम्ब्य गमनात्प्रतीतिरपि
विलम्बेत । दूरासन्नग्रहणकालतारतम्यं च स्यात् । वृत्तिप्रसरणाभावे तु प्राप्य-
प्रकाशकारित्वं न सिध्यति । मैवम् । सूर्योदये सकलादिग्यापिन्याः प्रमाथा
इवेन्द्रियवृत्तरपि तादृशवेगातिशयाङ्गीकारेणादोषात् । तत्र सतोऽपि क्रमस्य दुर्लक्ष्य-
तया पद्मपत्रशतवेधरीत्या यौगपद्यामिमानात् । तां च वृत्तिमालोकाद्यनुप्रवेशानु-
गुणसंनिवेशवानम्बुकाचादिः स्वभावादेव न सर्वथा प्रतिबध्नातीति तद्वचवहि-
तस्य यथायथमविशदं प्रत्यक्षं भवत्येव । वस्तुस्वभाववैचित्र्यं चावश्यं त्वयाऽप्यभ्यु-
पेयम् । अन्यथा ह्यप्राप्यग्रहणेऽपि कुड्यादिव्यवहितं न ग्राह्यं काचादिव्यवहितं तु
ग्राह्यमित्यत्र नियामकाभावः । अङ्गनादिसंस्कृतनयनप्रमायाः पृथिव्यादावनुप्रवेशात्त-
दक्तचक्षुषां निधिप्रभृतेरुपलम्भः । अथ श्रोत्रेन्द्रियस्य दूरस्थशब्देन कथं संबन्धः ।
सांख्यास्तु चक्षुरिन्द्रियस्येव श्रोत्रेन्द्रियस्यापि वृत्तिद्वारैव संबन्धः । न तु वायुवशा-
दुत्पन्नस्य शब्दस्येन्द्रियदेश एव संबन्धः । अत एव भेरीशब्दो मया श्रुत इति अमु-
कादिशि शब्दो जात इति च धीः संगच्छत इत्याहुः । तत्र । तथा सति दूरस्थो
भेरीशब्दं विलम्बेन शृणोति वादकास्तदासन्नाश्चाविलम्बेनेति वैषम्यं निर्बीजं स्यात् ।
तस्माद्वायुवशात्समीपमागच्छन्नेव शब्दो गृह्यत इत्यभ्युपेयम् । एवमपि भेरीशब्दो
मया श्रुत इति धीरुपपद्यते । अमुकादिशि शब्दो जात इति त्वनुमानेनापि गम्यत
इति बोध्यम् । द्रव्यग्रहणमिति । त्वक्चक्षुर्मनांसि द्रव्याद्रव्यग्राहकाणि । श्रोत्रजि-
ह्वाघ्राणान्यद्रव्यग्राहकाणि । संयोग इति । तदुक्तं तत्त्वरत्नाकरे—

तत्र वृद्धा विदामासुः संयोगं संनिकर्षणम् ।

संयुक्ताश्रयणं चेति यथासंभवमूह्यताम् ॥ इति ।

ननु यथावस्थितव्यवहारानुगुणज्ञानं प्रमेत्युक्तम् । एवं च स्मृतेरपि यथा-
वस्थितव्यवहारानुगुणत्वेन प्रामाण्यात्स्मृतेरपि प्रमाणत्वेन परिगणनाच्च
त्रीण्येव प्रमाणातीति कथं प्रतिपाद्यत इति चेदुच्यते—स्मृतेः प्रामाण्याङ्गीका-
रेऽपि संस्कारसापेक्षत्वात्तस्याः प्रत्यक्षमूलभूतत्वान्मूलभूते प्रत्यक्षेऽन्तर्भाव इति
न पृथक्प्रमाणकल्पनम् । अतस्त्रीण्येव प्रमाणानि संभवन्ति । स्मृतिर्नाम पूर्वानु-
भवजन्यसंस्कारमात्रजन्यं ज्ञानम् । तत्र चोद्बुद्धः संस्कारो हेतुः । तदुद्बोधश्च
' सहशादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधकाः '

इत्युक्तप्रकारेण क्वचित्सहशदर्शनाद्भवति क्वचिददृष्टात्क्वचिच्चिन्तया । आदि-
शब्देन साहचर्यस्यापि ग्रहणात्तेनापि भवति । सादृश्यजा यथा—देवदत्तयज्ञ-
दत्तयोः सहशयोर्देवदत्तदर्शनेन यज्ञदत्तस्मृतिः । द्वितीया यथा—यादृच्छिकी
कालान्तरानुभूतश्रीरङ्गादिदिव्यदेशस्मृतिः । तृतीया यथा—चिन्त्यमाने सति
श्रीवेङ्कटेशस्य कमनीयादिव्यमङ्गलविग्रहस्मृतिः । चतुर्थी तु सहचरितयोर्दे-
वदत्तयज्ञदत्तयोर्मध्येऽन्यतरदर्शनेन तदन्यतरस्मृतिः । सम्यक्पूर्वमनुभूतस्यै
सर्वस्य स्मृतिविषयत्वानियमः । क्वचित्कालदैर्घ्याद्द्वयाध्यादिना वा संस्कार-
प्रमोषात्स्मृत्यभावः ।

स्मृतेरिति । सहशादृष्टचिन्ताद्यैः संस्कारानुग्रहे ततः संस्कारोद्बोधे या परिग-
मति मतिः सा स्मृतिः । सा च स्वकारणभूतप्रामितिभ्रान्तिसंशयानुरोधेन स्वयमपि
तादृश्रूपा सती त्रिप्रकारेति सर्वार्थसिद्धावुक्तम् । केचित्तु सर्वाऽपि स्मृतिरयथार्थैर्नार्थ-
शून्यत्वात् । नहि पाकरक्ते घटे श्यामतामतिर्यथार्था । तद्वन्निवृत्तपूर्वावस्थे वस्तुनि
तत्तामुल्लिखन्ती स्मृतिरयथार्थैवेत्याहुः । तत्र स्मृत्यस्यापि विषयस्य स्वकाले विद्यमान-
त्वात् । नहि स्मृतिर्निवृत्तामपि पूर्वावस्थां वर्तमानत्वेनोल्लिखति । तथा चेदिदमित्येवो-
ल्लिखेत् । अपि तु निवृत्तत्वेनैव । अन्यथा तत्तोल्लेखाभावप्रसङ्गात् । पाकरक्ते तु
श्यामताप्रत्ययो निवृत्तामपि श्यामत्वं वर्तमानत्वेनोल्लिखतीति विषमो दृष्टान्तः । एव-
मेवातीतानागतानुमानागमयोगिप्रत्यक्षेषु नष्टविषयत्वेऽपि याथार्थ्यं द्रष्टव्यम् । नन्वेवं
स्मृतेर्यथार्थत्वेऽपि प्रमाणत्वं कुतः । कणादेन तेष्वपरिगणनादिति चेदत्र सर्वार्थासि-
द्धिकाराः—न ह्यक्षपादः कणादः कपिल इत्यादयः प्रामाणिकत्वेन परिग्राह्याः ।
युक्तियुक्तं तु गृहीमः । न पुनस्तद्वाक्यगौरवादिति । तथा च तैरनुक्तमपि युक्तियुक्तं
चेद्ग्राह्यमेव । तैरुक्तमपि युक्तिविरुद्धं चेत्तथाज्यमेव । दृश्यते च स्मृतेः प्रमाणत्वेन
परिगणनम्—

स्मृतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयम् । इत्यादौ ।

यथा स्मृतेः प्रत्यक्षेऽन्तर्भावस्तथा सोऽयं देवदत्त इति प्रत्याभिज्ञाया अपि प्रत्यक्षेऽन्तर्भावः । अस्मन्मतेऽभावस्य भावान्तररूपत्वात्तज्ज्ञानस्यापि प्रत्यक्षेऽन्तर्भावः । भूतले घटात्पन्ताभावो भूतलमेव । घटपागभावो नाम मृदेव । घटध्वंसश्च कपालमेव । प्रायः पुरुषेणानेन भवितव्यमेतदूहः । पुरः किंसंज्ञकोऽयं वृक्ष इत्यनध्यवसायो ज्ञानं संशय उक्तः । एतयोरपि प्रत्यक्षेऽन्तर्भावः । पुण्यपुरुषनिष्ठा प्रतिभाऽपि प्रत्यक्षेऽन्तर्भूता । सर्वं विज्ञानं यथार्थमिति वेदान्तविदां मतमित्युक्तत्वात् । भ्रमादिप्रत्यक्षज्ञानं यथार्थमेव । अख्यात्यात्म

अथानुपलब्धिप्रमाणस्य प्रत्यक्षेऽन्तर्भावमाह—अस्मन्मत इति । अन्तर्भाव इति । तथा च प्रयोगः—अभावज्ञानमिन्द्रियजन्यमिन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वाद्धटादिज्ञानवदिति । ननु गजाभाववति क्वचित्प्रदेशे विद्यमानमपि गजाभावं कारणाभावादननुभूयान्यत्र गतश्चेन्नो मंत्रेण ' तस्मिन्प्रदेशे गजो दृष्टः किम् ' इति पृष्टः संस्तत्प्रदेशे गजाभावं निश्चिनोतीति तदर्थमनुपलब्धिप्रमाणमङ्गीकार्यमेव । नह्यत्र प्रत्यक्षं क्रमते । तत्प्रदेशस्येदानीमिन्द्रियासंनिर्वादिता चेत्तत्प्रदेशे गजाभावः स्मर्तव्यस्य स्मरणाभावादनुभूयते । तथा च प्रयोगः—त्रिप्रतिपन्नः प्रदेशो गजवत्तया मयाऽननुभूतः, स्मर्तव्यत्वे सति तद्वत्प्रदेशेदानीमस्मर्यमाणत्वादिति । तथा च स्मरणाभावादनुभवाभावः । अनुभवाभावाच्च विषयाभाव इति तत्सिद्धचर्थं न प्रमाणान्तरापेक्षेति भावः । एतयोरपीति । ननु संशयस्यायथार्थज्ञानत्वेन कणादेन प्रतिभादनात्कथं प्रामाण्यमिति चेन्न । स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यत्र पुरोवर्तिवस्तुज्ञानं स्थाणुत्वपुरुषत्वविषयकं ज्ञानं चैकमेवेति वक्तुं न शक्यते । पुरोवर्तिवस्तुनः स्थाणुत्वविशिष्टतया भाने पुरुषत्वविशिष्टतया भानासंभवात् । एवं पुरुषत्वविशिष्टतया भाने स्थाणुत्वविशिष्टतया भानासंभवात् । तथा च तत्र ज्ञानद्वयमवश्यं वाच्यम् । तत्र चोर्ध्वद्रव्यभानमनुभवः । स्थाणुपुरुषभानं तु स्मरणम् । तत्रापि पूर्वमनुभवः । तेन कोटिद्वयस्मृतिहेतुसंस्कारोद्धोषे पश्चात्कोटिद्वयस्मरणं जायते । यथार्थत्वं तु द्वयोरप्यनयोर्निर्विवादमेव । ऊहविषयेऽप्येवमेव बोध्यम् । प्रतिभाऽपीति । भूतभाविवस्तुसाक्षात्काररूपस्याप्यस्या यथार्थत्वमेव । वस्तुसाक्षात्कारस्य वस्तुसदृशवस्तुसाक्षात्काररूपत्वात् । स्वसदृशे वस्तुनि स्वस्यांशतो विद्यमानत्वात् । तदाह—सर्वं विज्ञानमिति । अख्यातीति ।

आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा ।

तथाऽनिर्वचनख्यातिरित्येतत्ख्यातिपञ्चकम् ॥ १ ॥

ख्यात्यनिर्वचनीयख्यात्यन्यथाख्यात्यसत्ख्यातिवादिनो निरस्य सत्ख्याति-
पक्षस्वीकारात् ।

योगाचारा माध्यमिकास्तथा मीमांसका अपि ।

नैयायिका मायिनश्च प्रायः ख्यातीः क्रमाज्जगुः ॥ २ ॥

तत्राऽऽत्मख्यातिर्नामाऽऽत्मनो बुद्धेः ख्यातिर्विषयरूपेण प्रतिभासः । इदं रजतामिति बुद्धिरेव रजतरूपेणावभासते । न तत्र विषयान्तरापेक्षा । अयं घट इत्यादिषु सर्वत्र बुद्धिरेव विषयाकारोलेखसंभवेनात्रापि तथैवौच्यतात् । प्रयोगश्च—विमतं रजतं बुद्धि-
रूपं चक्षुरादिसंप्रयोगमन्तरेणापरोक्षत्वात्संमतबुद्धिवदिति विज्ञानवादिनो बौद्धाः । तच्चिन्त्यम् । चतुर्विधान्हेतुप्रतीत्य चित्तचैता उत्पद्यन्त इति हि तेषां मतम् । तत्र न तावत्सहकारिप्रत्ययाख्यादालोकादे रजताकारोदयः संभवति । तस्य स्पष्टतामात्र-
हेतुत्वात् । नाप्यधिपतिप्रत्ययाख्याच्चक्षुरादेः । तस्य विषयनियममात्रहेतुत्वात् । नापि समनन्तरप्रत्ययाख्यात्पूर्वज्ञानात् । विजातीयघटज्ञानानन्तरं विजातीयरजतभ्रमोदया-
दर्शनात् । नाप्यालम्बनप्रत्ययाख्याद्वाह्यात् । विज्ञानवादिना तदनङ्गीकारात् । ततः कथं रजताद्यसत्त्वे विज्ञानस्य रजताकारसमर्पणम् । न च संस्कारसामर्थ्येन तत्कल्पन-
मिति वाच्यम् । विकल्पासहत्वात् । तथा हि—स संस्कारः किं स्थायी क्षणिको वा । आद्ये क्षणिकं सर्वमिति त्वदीयसिद्धान्तहानिः । अन्त्ये तस्य द्वितीयक्षणावृत्तित्वेन रजताकारकल्पनाहेतुत्वायोगात् । पक्षद्वयेऽपि तस्य संस्कारस्य ज्ञेयत्वेन विज्ञानमा-
त्रवादहानिश्च । किंच स रजताकारः कथमुत्पद्यते । बाह्यार्थाज्जायत इति तु वक्तुम-
शक्यम् । त्वया बाह्यार्थस्यानङ्गीकारात् । ज्ञानमपि विशुद्धं तावन्न तज्जनकम् । तस्य भोक्षरूपत्वात् । दुष्टकारणजन्यज्ञानं तज्जनकमिति चेत्त्रापि जनकीभूतज्ञानमेव रजत-
ग्राहकमप्यद्वा । नाऽऽद्यः । क्षणिकयोर्जन्यजनकयोर्भिन्नकालीनत्वेनापरोक्षरजतप्रती-
त्यभावप्रसङ्गात् । नान्यः । अन्यस्य ज्ञानस्य रजतजन्यत्वे रजतादिर्बाह्योऽर्थोऽङ्गी-
कार्यः स्यात् । रजताजन्यत्वे तु रजतं न तद्विषयः स्यात् । ज्ञानाकारार्पको हेतुर्वि-
षय इत्यङ्गीकारात् । तस्मादात्मख्यातिपक्षे रजतमेव न प्रतीयेत । किंच बुद्धिबोध-
योरभेदं ब्रुवता विरुद्धधर्माध्यासेन भेदः कश्चिदङ्गीकृतो न वा । न चेत्क्षणभेदा-
द्यासिद्धिप्रसङ्गः । अङ्गीकृतश्चेत्तपीताद्यनेकाकारग्राहिण्येकत्र ज्ञाने कथं भियोविरुद्ध-
श्वेतपीतादितादात्म्यसंभव इति बोध्यम् ।

असत्ख्यातिर्नामासतो रजतादेः ख्यातिः प्रतीतिरिति शून्यवादिनो बौद्धाः । वाच-
स्पतिमिश्रा अपि शुक्ताविदं रजतामिति ज्ञाने प्रसिद्धयोः शुक्तिरजतत्वयोरलीक एव
समवायो भासत इत्यसत्ख्यातिमङ्गी चक्रुः । तच्चिन्त्यम् । असतो मानासंभवात् ।
अन्यथा शशशृङ्गादेरपि भानं स्यात् । ननु पदार्थस्य सत्त्वं न सिध्यतीत्यसत्ख्या-

तिरवश्यमेष्टव्या । पदार्थश्च प्रमाणप्रमेयभेदेन द्विधा भिन्नः । तत्र प्रमेयसिद्धिः प्रमा-
णाधीना । प्रमाणसिद्धिश्च तस्मादेव प्रमाणादन्यतो वा । आद्य आत्माश्रयः । द्विती-
येऽनवस्था । तथा च प्रमाणासिद्धौ प्रमेयमपि न सिध्यतीति सर्वत्रासत्ख्यातिरेवेति
चेन्न । त्वदुक्तोऽयं प्रमाणप्रतिषेधः प्रमाणसिद्धौ न वा । आद्ये व्याहृतिः । अन्त्ये
प्रमाणप्रतिषेधं स्वीकुर्वता त्वया प्रमाणं कुतो न स्वी क्रियते । प्रमाणप्रतिषेधस्य
प्रमाणस्य च प्रमाणासिद्धत्वाविशेषादित्यलमनेन ।

मीमांसकास्त्वख्यातिमाहुः—अख्यातिर्नाम न ख्यातिरख्यातिरप्रतीतिः । शुक्तिर-
तस्थल इदं रजतमित्यत्रेदमंश एव प्रत्यक्षप्रतीतिविषयः । न रजतांशः । तस्य चक्षु-
राद्यसैनिकर्षात् । रजतमिति तु स्मृत्याकारदर्शनमित्याहुः । तदपि चिन्त्यम् ।
रजतस्य प्रत्यक्षत्वेनानुभूयमानत्वात् । स्मर्यमाणस्याप्रवर्तकत्वाच्च । न च यथा शुष्के
पत्तिष्यामीति वाय्वादिवशात्कर्दमे पतति तथैवात्रावशागतप्रवृत्तिन्यायेन रजतप्रतीत्य-
भावेऽपि प्रवृत्तिरिति वाच्यम् । इदं रजतमित्यत्रेदमर्थभूतभास्वरद्रव्यजिघृक्षयेव प्रवृ-
तेरुपलभ्यमानत्वात् । न चारजतेऽपि रजतभेदाग्रहात्प्रवृत्तिरस्तिवति वाच्यम् । अग्रहस्य
काचिदपि प्रवृत्तिहेतुत्वाददर्शनात् । किं च यथा निवृत्तिकारणभूतभेदग्रहाभावात्प्रवर्तते
तथा प्रवृत्तिकारणभूतभेदग्रहामावात्किं न निवर्तते । यथा भेदग्रहस्य निवृत्तिकारणत्वं
नेदं रजतमित्यत्र दृश्यत एवमभेदग्रहस्य प्रवृत्तिकारणत्वमिदं रजतमित्यभ्रान्तबुद्धौ
दृष्टमेव । ततश्चाभेदग्रहरूपप्रवृत्तिकारणाभावात्प्रवृत्तिप्रतिपक्षभूता निवृत्तिः कथं न
स्यात् । न च सत्यरजते प्रवृत्तिरपि रजतभेदाग्रहादेवेति वाच्यम् । तथाऽपि
रजतार्थिनः कदाचिद्रजताञ्चि्वृत्तिरपि रजतभेदाग्रहादिति दृश्यत इति शुक्तिरजतस्थले
निवृत्तिकारणभूतरजताभेदाग्रहसद्भावाच्चि्वृत्तिसनिवायेनेत्यवधेयम् ।

अन्यथाख्यातिर्नामन्यस्यान्यरूपेण प्रतीतिः । देशकालान्तरगतं रजतमेव शुक्तिसं-
प्रयुक्तेन दोषोपहतेनेन्द्रियेण शुक्त्यात्मना गृह्यते । न चैवमननुभूतस्यापि ग्रहणं
स्यादिति वाच्यम् । सादृश्यादेर्नियामकत्वात् । प्रयोगश्च विवादपदं शुक्तिशकलं
रजतज्ञानविषयो रजतोपायान्यत्वे सति रजतार्थिप्रवृत्तिविषयत्वात्सत्यरजतवत् । रज-
तस्योपायः कारणं खन्यादिः । तस्य रजतार्थिप्रवृत्तिविषयत्वेऽपि रजतज्ञानविषयत्वा-
भावाद्बिचरः । तद्वारणाय सत्यन्तं विशेषणमुपात्तमिति नैयायिकाः । तत्रान्य-
थात्वं किं ज्ञानेऽथवा फल उत वस्तुनि । नाऽऽद्यः । रजताकारं ज्ञानं शुक्तिमाल-
म्बत इति ज्ञानेऽन्यथात्वं वाच्यम् । तत्र रजताकारग्रस्तं ज्ञानं प्रति शुक्तेः स्वाकारसम-
पर्णासंभवः । न द्वितीयः । फलस्य स्फुरणस्य भ्रान्तौ सम्यग्ज्ञाने वा स्वरूपतो वैष-
म्यादर्शनात् । नापि तृतीयः । वस्तुन्यन्यथात्वं हि शुक्तिकायां रजततादात्म्यं किंवा
रजताकारेण परिणामः । आद्येऽत्यन्तभिन्नयोर्वास्तवतादात्म्यासंभवः । द्वितीये तु बाध-
एव न स्यात् । रजतज्ञानमबाध्यं परिणामज्ञानत्वात्क्षीरपरिणामदुग्धज्ञानवत् । शुक्तिः

पुनः क्षीरवदेव बाध्येत । तथा चान्यथाख्यातिर्दुर्वचः । प्रयोगश्च-विमता शुक्ती रजतज्ञानाविषयः शुक्तित्वादितरशुक्तिवत् । न च प्रागुक्तहेतुना सत्प्रतिपक्ष इति वाच्यम् । तस्य सविशेषणत्वेन दुर्बलत्वात् ।

मायिनस्त्वनिर्वचनीयख्यातिमाहुः-अनिर्वचनीयख्यातिर्नाम सत्त्वेनासत्त्वेन चानिर्वचनीयस्य रजतादेः ख्यातिः प्रतीतिः । शुक्तिरजतस्थले च रजतं न सत् । भ्रान्तिबाधयोरसंभवात् । नाप्यसत् । ख्यातिबाधयोरसंभवात् । बाध्यस्य प्रतियोगिपूर्वकत्वेनासतस्तदसंभवात् । किंतु शुक्त्यज्ञानपरिणामभूतं सदसद्भ्रामनिर्वचनीयमपूर्वं रजतमुत्पद्यते । तदेव च तत्र रजतज्ञानविषयः । तदुक्तम्—

सत्त्वे न भ्रान्तिबाधौ स्तो नासत्त्वे ख्यातिबाधने ।

सदसद्भ्रामनिर्वाच्याविद्याऽऽविद्यैः सह भ्रमः ॥ इति ।

आविद्यैरविद्यापरिणामभूतैः रजतादिभिः । प्रपञ्चस्याप्यनाद्यविद्यापरिणामभूतत्वाद्-निर्वचनीयत्वमेवेति । तदपि चिन्त्यम् । अनिर्वचनीयत्वं वाच्यत्वरहित्यं चेत्सर्वव्यवहारविरोधः । ब्रह्मण्यपि त्वया वाच्यत्वरहित्याभ्युपगमेन तस्यापि प्रपञ्चतुल्यत्वापत्तिश्च । सत्त्वासत्त्वरहितत्वमिति चेच्छुक्तिरजतादावपि प्रातिभासिकसत्त्वस्य त्वयाऽङ्गीकारेण तत्रानिर्वचनीयत्वानापत्तिः । न च सत्त्वपदेन पारमार्थिकमेव सत्त्वं गृह्यत इति वाच्यम् । तथाऽपि ब्रह्मण्यतिप्रसङ्गात् । न हि ब्रह्मण्यपि पारमार्थिकं सत्त्वं नाम काश्चिद्धर्मस्त्वयेष्यते । तस्य निर्धर्मकत्वेन त्वयाऽङ्गीकारात् । अथ सदसद्विलक्षणत्वमेवानिर्वचनीयत्वमिति चेन्न । तथाविधस्य वस्तुनः प्रमाणशून्यत्वात् । सर्वं हि वस्तुजातं प्रतीतिव्यवस्थाप्यम् । प्रतीतिश्च काचित्सदाकारा घटादिविषया । काचिदसदाकारा च शशशृङ्गादिविषया । न तत्र तृतीया विधा काचिदुपलभ्यते । प्रतीतिविरुद्धस्यापि प्रतीतिविषयत्वेऽङ्गीक्रियमाणे सर्वं सर्वप्रतीतिविषयः स्यात् । सतोऽपि घटादेरसत्प्रतीतिविषयत्वं स्यात् । असतोऽपि शशशृङ्गादेः सत्प्रतीतिविषयत्वं स्यात् । किंच प्रपञ्चस्य प्रतीतिबाधाभ्यां सत्त्वासत्त्वयोः सिद्धौ तयोः समुच्चयो विकल्पो वा स्यान्न तद्विलक्षणत्वम् । किंचैतदनिर्वचनीयत्वं स्वयं सदसद्वा । सत्त्वे कथं तस्यासत्यप्रपञ्चवृत्तिता । असत्त्वे तु किं तेन कृतं स्यात् । किंचानिर्वचनीयरजताद्युत्पत्तौ किं कारणम् । न तावत्प्रतीतिः । उत्पत्तेः प्राक्तस्या असंभवात् । नापीन्द्रियाणि । तेषां ज्ञानकारणत्वात् । नापि तद्गतो दोषः । तस्य पुरुषाश्रयत्वेन शुक्तावनिर्वचनीयरजतोत्पादकत्वायोगात् । नापि दुष्टानीन्द्रियाणि । तेषामपि स्वकार्यभूते ज्ञान एव विशेषकरत्वात् । अथ विषयगतो दोषः कारणमिति चेत्स किं विषयमात्रनिष्ठो विषयपुरुषोभयनिष्ठो वा । आद्ये पुरुषस्य सर्वथा निर्दोषत्वेन भ्रमासंभवः । अन्त्ये तूभयनिष्ठदोषस्य केवलविषये कार्योत्पादकत्वासंभव इति बोध्यम् ।

सत्ख्यातिर्नाम ज्ञानविषयस्य सत्यत्वम् । तर्हि भ्रमत्वं कथमिति चेद्वि-
षयव्यवहारबाधाद्भ्रमत्वम् । तदुपपादयामः—पञ्चीकरणप्रक्रियया पृथिव्या-
दिषु सर्वत्र सर्वभूतानां विद्यमानत्वात् । अत एव शुक्तिकादौ रजतांशस्य
विद्यमानत्वाज्ज्ञानविषयस्य सत्यत्वम् । तत्र रजतांशस्य स्वल्पत्वात्तत्र न
व्यवहार इति तज्ज्ञानं भ्रमः । शुक्त्यंशभूयस्त्वज्ञानाद्भ्रमनिवृत्तिः । स्वप्नादि-
ज्ञानं तु सत्यमेव । तत्तत्पुरुषानुभाव्यतया तत्तत्कालावसानाद्रथादीन्परम-
पुरुषः सृजतीति श्रुत्याऽवगम्यते । पीतः खङ्ग इत्यादौ नयनवर्तिपित्तद्रव्य-
संयुक्ता नायनरश्मयः शङ्खादिभिः सह संयुज्यन्ते । तत्र पित्तगतपीतिमाभि-
भूतः शङ्खगतशुक्लिमा न गृह्यते । अतः स्वर्णानुलिप्तशङ्खवत्पीतः शङ्ख
इति प्रतीयते । सूक्ष्मत्वात्पीतिमा स्वनयननिष्क्रान्ततया स्वेनैव गृह्यते न

विषयव्यवहारेति । रज्ज्वां दूरतः सर्पज्ञाने ततः समीपं गतः सर्पज्ञानं भ्रम इति
प्रत्येति । तत्र यद्यपि रज्ज्वां सर्पांशानां विद्यमानत्वेन विषयस्य सत्यत्वं तथाऽपि
तदंशानामरूपत्वेन तत्रायं सर्प इति व्यवहारो न भवति । अत एव तस्य भ्रमत्वम् ।
न तु विषयासत्यत्वात् । रज्ज्वां सर्पांशानां विद्यमानत्वं तु—

तदेव सदृशं तस्य यत्तदद्रव्यैकदेशभाक् ।

इत्युक्तरत्या सिद्धम् । अत एव—

सोमामावे च पूतीकग्रहणं श्रुतिचोदितम् ।

सोमावयवसद्भावादिति न्यायविदो विदुः ॥

शुक्तिकादाविति । रजतस्य तेजस्त्वेन तदंशानां पञ्चीकरणप्रक्रियया शुक्तिकादि-
पृथिव्यां विद्यमानत्वादित्यर्थः । श्रुत्येति । तथा च श्रुतिः—‘न तत्र रथा न
रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान्पथः सृजते—स हि कर्ता’ (वृ-
४।३।१०) इति । रथे युज्यन्त इति रथयोगा अश्वाः । एते च पदार्थास्तत्तत्पुरुषा-
नुमाव्या एवेत्यन्येषां न तदुपलब्धिः । तत्तत्कालावसाना एवेति तस्यैव स्वप्नद्रष्टृर्जा-
गृतौ न तदुपलब्धिः । एतादृशविचित्रपदार्थकर्तृत्वं सत्यरूपरूपयाऽऽश्चर्यशक्तेरीश्वरस्य
संभवत्येवेति न काचिदनुपपत्तिः । प्रतीयत इति । ननु दूरस्थशङ्खस्य सामीप्या-
भावात्तत्रस्थपित्तद्रव्यं पित्तोपहतेनापि पुरुषेण कथं गृह्यत इति चेन्न । पित्तोपहतेन
पुरुषेण स्वनयननिष्क्रान्तपित्तद्रव्यज्ञानजनितसंस्कारसहायेन शङ्खस्थं पित्तद्रव्यं
दूरस्थमपि स्वचाक्षुषरश्मिमिर्जायते । यथाऽऽकाशेऽतिदूरगतः पक्षी न द्रष्टुं श-
क्यते, परं तु स्वसमीपदेशोत्पत्तनकालादारभ्य सततं दृश्यमानस्तत्संस्कारसह-

त्वन्वैः । जपाकुसुमसमीपवर्तिस्फटिकमणिरपि रक्त इति गृह्यते । तज्ज्ञानं सत्यमेव । मरीचिकायां जलज्ञानमपि पञ्चीकरणप्रक्रियया पूर्वोक्तवदुपपद्यते । पञ्चीकरणप्रक्रिया तूत्तरत्र वक्ष्यते । दिग्भ्रमोऽपि तथैव । दिशि दिगन्तरस्य विद्यमानत्वात् । अबच्छेदकमन्तरेण दिगितिद्रव्यान्तरानङ्गीकाराच्च । अला-
तचक्रादौ तु शैट्यात्तदन्तरालाग्रहणात्तद्देशसंयुक्तत्तद्वस्तुन एव चक्राकारेण ग्रहणम् । तदपि सत्यमेव । दर्पणादिषु निजमुखादिप्रतीतिरपि यथार्था । दर्पणादिप्रतिहतगतथो नायनरश्मयो दर्पणादिग्रहणपूर्वकं निजमुखादि गृह्णन्ति । तत्राप्यतिशैट्यादन्तरालाग्रहणात्तथा प्रतीतिः । द्विचन्द्रज्ञानादा-
वप्यङ्गुल्यवष्टम्भतिमिरादिभिर्नायनतेजोगतिभेदेन सामग्रीभेदात्सामग्रीद्वय-

कृतेन चक्षुषा दूरगतोऽपि ज्ञायते तद्वत् । रक्त इतीति । जपाकुसुमप्रभामिभूतत्वात् । तत्र जपाकुसुमप्रभा वितताऽपि स्फटिकादिस्वच्छद्रव्यसंयुक्ता स्फुटतरमुपलभ्यते । तत्र एव च तत्समीपवर्तिनोऽन्ये घटादयः पदार्था न रक्ता उपलभ्यन्ते । पञ्चीकरण-
प्रक्रिययोति । तथा च तेजःपृथिव्योरप्यम्बुनो विद्यमानत्वात्तज्ज्ञानं सत्यमेव । तत्रेन्द्रियदोषेण तेजःपृथिव्योरग्रहणम् । अदृष्टवशाच्चाम्बुन एव ग्रहणम् । अयथार्थज्ञानवादिभिरपि क्वचिदेव भ्रमस्य स्वीकृतत्वेन तन्नियामकत्वमदृष्टस्याङ्गीक-
र्तव्यमेव । विद्यमानत्वादिति । तथा च पूर्वदिशः पश्चिमदिक्त्वेन ज्ञानं यथार्थ-
मेव । पूर्वस्यां दिशि पश्चिमदिगंशस्य वस्तुतः सत्त्वात् । वस्तुतो दिश एकत्वात् । दिग्भेदस्योपाधिकत्वात् । यो ग्रामस्तत्पश्चिमदिक्स्थैः पूर्वदिक्स्थ इति व्यवहियते स एव तत्पूर्वदिक्स्थैः पश्चिमदिक्स्थ इति व्यवहियते । द्रव्यान्तरानङ्गीकारादिति । एतच्च चतुर्थेऽवतार आकाशानिरूपणे वक्ष्यते । अलातेति । अलातमुल्लुकम् । तद्यदा चक्रवद्भ्राम्यते तदा वस्तुतस्तत्प्रतिक्षणमैकैकदिक्संयुक्तमपि सर्वदिक्संयुक्तमिव वर्तुलाकारं दृश्यते । तत्रान्तरालाग्रहणाद्वर्तुलाकारप्रतीतिर्भवति । वास्तविकचक्रेऽपि वर्तुलाकारप्रतीतावन्तरालाग्रहणमेव मूलम् । इथांस्तु विशेषः—वास्तविकचक्रेऽन्तराला-
भावादेव तदग्रहणम् । अत्र त्वन्तरालसत्त्वेऽपि शैट्यात्तदग्रहणमिति । गृह्णन्तीति । ननु स्वमुखस्यैव ग्रहणे स्वमुखस्य स्वाभिमुखत्वाभावेन तस्य स्वाभिमुखत्वेन कथं प्रतीतिरित्यत आह—तत्रापीति । अन्तरालाग्रहणात् । दर्पणमुखयोर्यदन्तरालं तदग्र-
हणात् । अङ्गुल्यवष्टम्भः । अङ्गुल्या नेत्रनिरोधः । तिमिरः । नेत्ररोगः । तेजोगतीति । तेजोगतिरेव चन्द्रग्रहणसामग्री । सा च द्विधा । एका स्वाभाविकी ऋजुः । द्वितीया त्वङ्गुलीनिरोधादिमूलिका वक्रभूता । तत्रैका सामग्री स्वदेशवि-

मन्योन्यनिरपेक्षं चन्द्रद्वयग्रहणे हेतुर्भवति । सामग्रीद्वयं पारमार्थिकं तेन चन्द्रद्वयज्ञानं भवति ।

अतः सर्वं ज्ञानं सत्यं सविशेषविषयं च । निर्विशेषवस्तुनोऽग्रहणात् । एवंभूतं प्रत्यक्षं भेदविशिष्टमेव प्रथमतो गृह्णाति । भेद इति व्यवहारे तु प्रतियोग्यपेक्षा न तु स्वरूपे । तेनानवस्थान्योन्याश्रयदोषोऽपि नास्ति । उपर्युपर्यपेक्षाऽनवस्था । परस्परापेक्षाऽन्योन्याश्रयः । ननु दशमस्त्वमसीत्येवदपि प्रत्यक्षं किं न स्यादिति चेन्न । त्वमित्येतस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि दशमोऽहमित्यस्य वाक्यजन्यत्वात् । यदि दशमोऽहमित्यस्य प्रत्यक्षविषयत्वं तर्हि धर्मवांस्त्वमसी-

शिष्टं चन्द्रं गृह्णाति । द्वितीया तु किञ्चिद्वक्रगतिश्चन्द्रसमीपदेशग्रहणपूर्वकं चन्द्रं स्वदेशवियुक्तं गृह्णाति । न च चन्द्रसमीपदेशे चन्द्रामावात्कथं तत्र चन्द्रग्रहणमिति वाच्यम् । चन्द्राधिकरणदेशतत्समीपदेशयोरन्तरालाग्रहणेन द्वितीयसामग्र्या चन्द्रस्य स्वाधिकरणदेशस्यत्वेनाग्रहणाच्च तथा प्रतीतेः । ततश्च ग्रहणभेदेन ग्राह्याकारभेदादेकत्वग्रहणामावाच्च द्वौ चन्द्राविति भवति प्रतीतिरिति बोध्यम् ।

अग्रहणादिति । विशेषरहितस्य वस्तुनो रूपाद्यभावान्न तत्र प्रत्यक्षं क्रमते निर्विकल्पकप्रत्यक्षमपि गुणसंस्थानादिविशिष्टविषयकमेवेति प्रागुक्तमेव । भेदविशिष्टमेवेति । संस्थानरूपजातेरेव भेदस्वरूपत्वेन तादृशभेदविशिष्टमेव गृह्णातीत्यर्थः । यदि भेदो नाम जात्यपेक्षया कश्चिदन्योऽन्योन्याभावरूपः स्यात्तर्हि तत्स्वरूपे प्रतियोग्यपेक्षा स्याद्धटः पटाद्भिन्न इति । तत्र च घटनिष्ठो भेदो घटस्वरूप एव वा घटाद्भिन्नो वा । आद्ये घटस्वरूपे गृहीते स्वरूपव्यवहारवत्सर्वस्माद्धेदव्यवहारप्रसक्तेः । स्वरूपमात्रभेदवादिनो भेदस्य प्रतियोग्यपेक्षायाः कल्पयितुमशक्यत्वात् । हस्तः कर इति वद्धटो भिन्न इति पर्यायत्वं च स्यात् । अन्ये घटनिष्ठे प्रथमे भेदे घटप्रतियोगिको द्वितीयो भेदः कल्प्यः । तस्मिंश्च द्वितीये भेदे प्रथमभेदप्रतियोगिकस्तृतीयो भेदः कल्प्य इत्यनवस्था स्यात् । किञ्च जात्यादिधर्मविशिष्टवस्तुग्रहणे सति भेदग्रहणं भेदग्रहणे सति जात्यादिधर्मविशिष्टवस्तुग्रहणम् । अगृहीते हि घटस्य पटाद्धेदेऽयं घटजातीय इति ज्ञातुमशक्यत्वादित्यन्योन्याश्रयः स्यात् । अतो जातिरेव भेद इत्यङ्गीकारमिति भेदविशिष्टस्यैव प्रत्यक्षमिति सिद्धम् । ननु यदि जातिरेव भेदस्तर्हि तस्य प्रतियोग्यपेक्षा न स्यादिति चेदिष्टमेवैतत् । कथं तर्हि सा लोके दृश्यत इत्यत आह—भेद इति व्यवहार इति । धर्मवानिति । न च धर्मस्यातीन्द्रियत्वान्न प्रत्यक्षमिति वाच्यम् ।

१ घ. °न द्विचन्द्रज्ञा° । २ ग. °र्वं विज्ञा° । ३ ग. °क्षं प्रथमतो भेदमेव गृ° । ४ क. °षो ना° ।

त्येतस्यापि प्रत्यक्षत्वं स्यात् । अङ्गीकारेऽतिप्रसङ्गात् । अत एव तत्त्वमसी-
तिवाक्यस्य नापरोक्षज्ञानजनकत्वम् ।

एतेन प्रत्यक्षप्रमाणं प्रमाणम् । प्रमां चाऽऽत्मचैतन्यमेव । चैतन्यं च
त्रिविधम्—अन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यम् । अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नं
चैतन्यम् । विषयावच्छिन्नं चैतन्यं चेति । यदा त्रयाणामैक्यं तदा साक्षा-
त्कारः । सोऽपि निर्विशेषविषय एवाभेदमेव गृह्णातीत्यादिकुट्टिकल्पना
निरस्ता ।

तथाऽप्ययं पर्वतः परभागे वह्निमानित्युपदेशजन्यज्ञानस्य वह्न्यंशे प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात् ।
न च वह्निमत्त्वेन पर्वतस्य प्रत्यक्षविषयत्वमसिद्धमिति वाच्यम् । अत्रापि दशमत्व-
विशिष्टाकारेण प्रत्यक्षविषयत्वासिद्धेः । एतेन तत्त्वमसीति वाक्यं स्वार्थप्रत्यक्षज्ञान-
जनकं स्वतः प्रत्यक्षार्थविषयत्वाद्दशमस्त्वमसीत्यादिवाक्यवदित्यनुमानं निरस्तम् ।
तदेवाऽऽह—अत एवेति ।

प्रत्यक्षमिति । मायावादिनां मतमेतत् । आत्मचैतन्यमेवेति । अत्र प्रमाणं 'यत्सा-
क्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' (बृ० ३ । ४ । १) इति श्रुतिः । अपरोक्षादित्यस्यापरोक्षमि-
त्यर्थः । ब्रह्मणः प्रमाणव्यापारद्वारकं प्रत्यक्षत्वं व्यावर्तयितुं श्रुतौ साक्षादिति विशेष-
णम् । अन्तःकरणावच्छिन्नमिति । इदं प्रमातृचैतन्यमिति व्यवहियते । अन्तः-
करणवृत्त्यवच्छिन्नमिति । इदं प्रमाणचैतन्यमिति व्यवहियते । विषयावच्छिन्न-
मिति । इदं विषयचैतन्यमिति व्यवहियते । त्रयाणामैक्यमिति । यथा तडागोदकं
छिद्रान्निर्गत्य कुर्यात्माना केदारान्प्रविश्य तद्देव चतुष्कोणाद्याकारं भवति तथा तैज-
समन्तःकरणमपि चक्षुरादिद्वारा घटादिविषयदेशं गत्वा घटादिविषयाद्याकारेण परिण-
मते । स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते । तत्र च घटादेस्तदाकारवृत्तेश्च बहिरेकत्र देशे
समवधानात्तदुभयावच्छिन्नं चैतन्यमेकमेव । विमाजकयोरप्यन्तःकरणवृत्तिघटाविषययो-
रेकदेशस्थत्वेन भेदाजनकत्वात् । अत एव मठान्तर्घातघटावच्छिन्नाकाशो न मठाव-
च्छिन्नाकाशाद्भिद्यते । तथा चायं घट इत्यादिप्रत्यक्षस्थले घटाकारवृत्तेर्घटसंयोगितया
घटावच्छिन्नचैतन्याद्वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्याभिन्नतया घटज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वमिति वे-
दान्तपरिभाषायामुक्तम् । निर्विशेषविषय इति । घटोऽस्तीत्यत्रास्तित्वं तद्भेदश्च व्यव-
हियते । तत्र द्वयोरपि व्यवहारयोः प्रत्यक्षमूलत्वं न संभवति । अस्तित्वव्यवहारप्रयोज-

निर्विकल्पकं तु नाप्रजात्यादियोजनाहीनं वस्तुमात्रावगाहि किञ्चिदिदमित्था-
दि नैयायिकमतमपि निरस्तम् । ननु

‘ काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम् ’

इत्युक्तत्वात्कथं गौतममतनिरास इति चेदुच्यते—नास्माभिः कात्स्न्येन
तन्मतनिरासः क्रियते । यावदिह युक्तियुक्तं तावत्स्वी क्रियते । परकल्पि-
ततटाकोपजीवनवत् । न च तटाकस्थः पङ्केऽपि स्वी क्रियते । अतः

कघटस्वरूपप्रत्यक्षानन्तरं घटेतरस्मृतौ सत्यां तादृशेतरप्रतियोगिकभेदप्रत्यक्षसंभवेन
तयोर्भिन्नकालज्ञानफलत्वात् । प्रत्यक्षज्ञानस्यैकक्षणवर्तित्वात् । तत्र प्रत्यक्षस्य प्राथ-
मिकं स्वरूपविषयकत्वमवश्याश्रयणीयमिति न भेदः प्रत्यक्षेण गृह्यते । किञ्च निर्विशेष-
पसन्मात्रमेवेति तदाशयः ।

निरस्तमिति । निर्विकल्पकमपि सविशेषविषयमेव । तस्य सविकल्पके स्वस्मिन्न-
नुभूतपदार्थविशिष्टप्रतिसंधानहेतुत्वात् । निर्विकल्पकं न सर्वविशेषरहितस्य ग्रहणम् ।
तथाभूतस्य कदाचिदपि ग्रहणायोगात् । अनुपपत्तेश्च । केनचिद्विशेषेणैदमित्थमिति हि
सर्वा प्रतीतिरुपजायते । किञ्च गुणसंस्थानादिविशिष्टप्रथमापिण्डग्रहणमेव निर्विकल्पकम् ।
तथैव प्रागुक्तम् । परमाणुकारणत्वेति । इदमग्रे चतुर्थेऽवतारे वक्ष्यते । वेदपौरुषेय-
त्वेति । ननु वेदवाक्यं सकर्तृकं वाक्यत्वादस्मदादिवाक्यवदित्यनुमानेन तस्य पौरुषे-
यत्वं सिध्यतीति चेन्न । अनुग्राहकतर्काभावेनास्य हेतोरप्रयोजकत्वात् । वाचा विरूप-
नित्येति श्रुतिविरोधेन कालात्ययापादिष्टत्वाच्च । कर्तृस्मरणाभावाच्च तस्यापौरुषेय-
त्वम् । न च जीर्णकूपारामादिषु व्यभिचार इति वाच्यम् । उपदेशपारम्पर्येण स्मर्त-
व्यत्वे सत्यस्मरणस्य कर्त्रभावनियतत्वात् । वेदस्याकर्तृकत्वमिति परमर्षिप्रवादाच्च ।
ननु सर्ववेदकर्तारि भगवति विद्यमानेऽपि मन्वाद्यस्तदनुविधायिनश्च वेदवक्तारमपलप-
न्तीति वाच्यम् । तेषां तदपलापे प्रयोजनाभावात् । न हि सत्यनिष्ठास्तादृशा महा-
त्मानो भगवन्तमप्यपलपन्तीति संभवति । न च नित्यस्य वेदस्य स्फ्यकपालादिमि-
रानित्यैः कथं योग इति वाच्यम् । स्फ्यकपालपुरोडासादीनामपि साजात्येनानादि-
त्वात् । न चैवं

‘ प्रतिमन्वन्तरं चैषा श्रुतिरन्या विधीयते ’

इत्युक्तिरसंगतेति वाच्यम् । अनादिसिद्धानां वेदांशानामनन्तत्वात्कार्त्स्नि-
श्चिन्मन्वन्तरे काश्चिद्वेदांशः प्रवर्तत इति तदभिप्रायात् । ऋचः सामानि

परमाणुकारणत्ववेदपीरुषेयत्वेश्वरानुमानिकत्वजीवविभुत्वानि, सामान्यसम-
वायविशेषाणां पदार्थत्वेन स्वीकारः, उपमानादेः पृथक्प्रमाणत्वकल्पनं,
संख्यापरिमाणपृथक्त्वपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वादीनां पृथग्गुणत्वकल्पनं, दि-
शोऽपि द्रव्यत्वकल्पनमित्यादिसूत्रकारादिविरुद्धप्रक्रिया नास्माभिः स्वी-
क्रियत इति न विरोधः ।

इति श्रीबाधूलकुलातिलकश्रीमन्महाचार्यस्य प्रथमदासेन श्रीनिवासदासेन
विरचितायां यतीन्द्रमतदीपिकायां प्रत्यक्षनिरूपणं
नाम प्रथमोऽवतारः ॥ १ ॥

जाज्ञिर इति श्रुतिस्तु प्रादुर्भावमात्रपरा । ईश्वरानुमानिकत्वेति । ननु क्षित्यङ्कुरादि-
सकर्तृकं कार्यत्वाद्भवदित्यनुमानात्तत्सिद्धिरिति चेन्न । तथा सति सपक्षे यादृक्साध्य-
मवगतं तादृगेव पक्षे स्यात् । नहि पर्वतेऽनुमीयमानो वह्निरुष्णत्वमपहाय, सिद्धेत् ।
तथा च स कर्ता कर्तृव्यापककार्यकरणकर्मादिमान्स्यात् । स चानिष्टः । अधिकं तत्त्व-
मुक्ताकल्पे (३ । १८) द्रष्टव्यम् । नन्वेवमीश्वरानुमानदूषणे —

विद्याचारो गुरुद्रोही वेदेश्वरविदूषकः ।

त एते बहुपाप्मानः सद्यो दण्ड्या इति श्रुतिः ॥

इति शास्त्रविरोधः स्यादिति चेन्न । अनुमानदूषणेऽप्यागमात्तत्सिद्धेः । अन्यथाऽ-
स्मदादिप्रत्यक्षवेद्यत्वनिषेधेन तवापि तद्दूषकत्वप्रसङ्गः ।

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।

त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥

इत्याप्तोक्तावनुमानपदं मननपरमिति बोध्यम् । जीवविभुत्वेति । इदमग्रे जीविनि-
रूपणे वक्ष्यते । सामान्येति । इदमपि प्रमेयनिरूपणारम्भे वक्ष्यते । उपमानादे-
रिति । इदमनुमाननिरूपणे वक्ष्यते । संख्येति । इदं गुणनिरूपणे वक्ष्यते ।
दिशोऽपीति । इदमाकाशनिरूपणे वक्ष्यते ।

इति श्रीयतीन्द्रमतदीपिकाप्रकाशे प्रथमोऽवतारः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽवतारः ।

—:००:—

अथानुमानं निरूप्यते । व्याप्यस्य व्याप्यत्वानुसंधानाद्व्यापकविशेषप्रामि-
तिरनुमितिः । तत्करणधनुषानम् । व्याप्यस्य धूमस्वाग्निव्याप्यत्वानुसंधाना-
द्व्यापकविशेषप्रामितिर्वाह्निप्रामितिः । अनधिकदेशकालनिर्यतं व्याप्यम् । अन्यु-
नदेशकालवृत्ति व्यापकम् । तदिदमविनाभूतं व्याप्यम् । तत्प्रतिसंबन्धि
व्यापकप्रामिति । तेन निरुपाधिकतया नियतसंबन्धो व्याप्तिरित्युच्यते । सेयं
यत्र धूमस्तत्र वाह्निरिति व्याप्तिर्धूमो दर्शनाद्बुद्धवे । व्याप्तिर्द्विविधा । अन्वय-
व्यतिरेकभेदात् । साधनविधौ साधनविधिरूपेण प्रवृत्ता व्याप्तिरन्वयव्याप्तिः ।
यथा यो यो धूमवान्स सोऽग्निमानिति । साध्यनिषेधे साधननिषेधरूपेण
प्रवृत्ता व्याप्तिर्व्यतिरेकव्याप्तिः । यथा योऽग्निः स निर्धूम इति ।

सेयमुभयविधा व्याप्तिरुपाधिसंबन्धे दुष्यति । साध्यव्यापकत्वे सति
साधनाव्यापक उपाधिः । यथा वह्निना धूमे साध्यमान आर्द्रेन्धनसंबन्ध
उपाधिः । भैत्रीतनयत्वेन श्यामत्वे साध्यमाने शाकपाकजत्वमुपाधिः । स

अथ द्वितीयोऽवतारः ।

साधनविधाविति । हेतुसम्बन्धे साध्यसम्बन्धोऽन्वयः । साध्याभावे साधनाभावो
व्यतिरेकः । न पुनः साधनाभावे साध्याभावः ।

व्याप्यव्यापकभावो हि भावयोर्याद्विगम्यते ।

तयोरभावयोस्तस्माद्विपरीतः प्रतीयते ॥ इत्युक्तेः ।

यथा वह्निनेति । यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राऽऽर्द्रेन्धनसंयोगो वर्तत इति तस्य
साध्यव्यापकत्वम् । यत्र यत्र वह्निस्तत्र तत्राऽऽर्द्रेन्धनसंयोगो नास्ति, अयोगोलके
व्यभिचारादिति तस्य साधनाव्यापकत्वम् । एवमग्रेऽपि । स्वव्यापकत्वेनाभिमतस्य यो
व्यापकः स यदि स्वव्यापको न भवति तर्हि स्वव्यापकत्वेनाभिमते स्वव्यापकत्वं
नास्त्येव । पर्वतो धूमवानित्यनुमाने वह्निव्यापकत्वेनाभिमतस्य धूमस्य व्यापको य
आर्द्रेन्धनसंयोगः स वह्निव्यापको न भवतीत्युपाधिलक्षणादवगते वह्निव्यापकत्वं धूमस्य
नास्तीति निश्चयो भवति । एतदेवोपाधेर्दूषकताबीजम् । तदुक्तम्—निरुपाधिकसंबन्धस्य
व्याप्तिस्वरूपत्वात्तदभावेन व्याप्तिमवसादयन्नुपाधिर्दूषणमिति । उपाधिव्यभिचारेण हेतौ
साध्यव्यभिचारानुमानमपि भवति । यथा वह्निर्धूमव्यभिचारी, धूमव्यापकाऽर्द्रेन्धनसंयो-

चोपाधिद्विविधः । निश्चितः शङ्कितश्चेति । निश्चितो यथा—विप्रतिपन्ना सेवा दुःखहेतुः, सेवात्वाद्वाजसेवावदिति । अत्र पापारब्धत्वमुपाधिः । अयं चेश्वर-सेवायां नास्तीति निश्चयादयं निश्चितोपाधिः । शङ्कितो यथा—विप्रति-पन्नो जीव एतच्छरीरावसाने मुक्तिमान्निष्पन्नसमाधित्वाच्छुकादिवादिति । अत्र कर्मात्यन्तपरिक्षय उपाधिः । स च निष्पन्नसमाधौ विप्रतिपन्ने जीवेऽस्ति नास्तीति संदिग्धत्वाच्छङ्कितोपाधिः । अतो निरुपाधिकसंबन्धवद्व्याप्य-मिति सिद्धम् ।

व्याप्यं साधनं छिङ्गमित्यनर्थान्तरम् । तस्य द्वे रूपे अनुमित्यङ्गभूते—व्याप्तिः पक्षधर्मता चेति । पञ्च रूपाण्यपि सन्ति । तानि च पक्षसत्त्वं सपक्ष-सत्त्वं विपक्षाद्व्यावृत्तिरबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं चेति । सिसाधयि-षितधर्मविशिष्टो धर्मा पक्षः । यथाऽग्निमत्त्वादिसाधने पर्वतादिः । सिसाधयि-षितसजातीयधर्मवान्सपक्षः । यथा महानसादिः । साध्यैतत्सजातीयशून्यो विपक्षः । यथा महाहृदः । प्रबलेन प्रमाणेन पक्षे निश्चितसाध्याभाववत्त्वं बाधितविषयत्वम् । यथा महाहृदोऽग्निमानित्यादि । तदभावस्त्वबाधितवि-षयत्वम् । समबलतया प्रतीयमानप्रमाणोपरोधभावोऽसत्प्रतिपक्षत्वम् ।

एवंभूतं व्याप्यं द्विविधम्—अन्वयव्यतिरेकिकेवलान्वयिभेदात् । पूर्वो-क्तपञ्चरूपोपपन्नं व्याप्यमन्वयव्यतिरेकि । यथा पर्वतोऽग्निमान्धूमवत्त्वात् । यो यो धूमवान्स सोऽग्निमान्यथा महानसम् । योऽनग्निः स निर्धूमो यथा महाहृद इति । तादृशमेव विपक्षरहितं व्याप्यं केवलान्वयि । यथा ब्रह्म शब्दवाच्यं वस्तुत्वाद्धटवत् । विपक्षाभावात्केवलान्वयी चतुरूपोपपन्नः । केवलव्यतिरेकिणि साध्याप्रसिद्धेस्तद्व्यतिरेकव्याप्तिर्दुर्ग्रहा । अतः केवलव्य-

गव्यभिचारित्वात् । व्यापकव्यभिचारिणो व्याप्यव्यभिचारावश्यकत्वादिति ।

पर्वतादिरिति । तथा च तादृशपर्वतादिरूपपक्षवृत्तित्वं धूमादेरस्तीति प्रथमरूप-संगतिः । सिसाधयिषितसजातीयेति । सिसाधयिषितो धर्मः पर्वतादिवृत्तिर्वह्निस्तत्स-जातीयो महानसादिवृत्तिर्वह्निस्तादृशवह्निरूपधर्मवानित्यर्थः । महानसादिरिति । तथा च तादृशमहानसादिरूपसपक्षवृत्तित्वं धूमादेरस्तीति द्वितीयरूपसंगतिः । महाहृद इति । तथा च तादृशमहाहृदरूपविपक्षावृत्तित्वं धूमस्यास्तीति तृतीयरूपसंगतिः । चतुर्थं दर्शयति—प्रबलेनेति । पञ्चमं दर्शयति—समबलतयेति ।

साध्याप्रसिद्धेरिति । यथा पृथिवी गन्धवती पृथिवीत्वादित्यत्र गन्धो न प्रसिद्धः । पक्ष एव प्रसिद्धश्चेत्सिद्धसाधनम् । सपक्षे चेत्केवलव्यतिरेकित्वहानिः । विपक्षे चेद्व्या-

तिरेकिनिरासः । केवलान्वयिन्यन्वयव्यतिरेकिणि चात्यन्तातीन्द्रियार्थ-
गोचरता निरस्ता ।

तदेतदनुमानं स्वार्थं परार्थं चेति द्विधा विभज्य केचिदाहुः । सर्वेषामनुमा-
नानां स्वप्रतिसंधानादिवलेन प्रवृत्ततया स्वव्यवहारमात्रहेतुत्वमिति स्वार्था-
नुमानमेवेत्यपरे । तदनुमानबोधकवाक्यं प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनरूपं
पञ्चावयवसंयुक्तम् । तत्र पक्षवचनं प्रतिज्ञा । यथा पर्वतोऽग्निमानिति ।
लिङ्गस्य वचनं हेतुः । यथा धूमवत्त्वादिति । व्याप्तिनिर्देशपूर्वकं दृष्टान्त-
वचनमुदाहरणम् । तद्द्विधा । अन्वयिव्यतिरेकिभेदात् । यथा यो यो
धूमवान्स सोऽग्निमान्यथा महान्समित्यन्वयोदाहरणम् । योऽनग्निः स
निर्धूमो यथा महाहृद् इति व्यतिरेकोदाहरणम् । दृष्टान्तनिर्देशनेन व्याप्त-
तया पक्षे हेतुपसंहारवाक्यमुपनयः । सोऽपि द्विविधः । अन्वयव्यतिरेकभे-
दात् । तथा धूमवानित्यन्वयोपनयः । अयं च न तथा निर्धूम इति व्यति-
रेकोपनयः । हेतुपूर्वकं पक्षे साध्योपसंहारवाक्यं निगमनम् । इदमपि द्विविधं
तथैव । यथा तस्मादाग्निमानित्यन्वयेन निगमनम् । तस्मादयं निराग्निर्न भव-
तीति व्यतिरेकेण । एवं पञ्चावयववादिनो नैयायिकाः ।

घातः । अपसिद्धे च साध्ये तदभावव्याप्तिर्दुर्ग्रहा । प्रतियोगिप्रामितिं विनाऽभावप्रामिते-
रयोगात् । नन्वस्त्वेवं भावसाध्यकस्थले । पृथिवीतिरेक्यो भिद्यते गन्धवत्त्वादित्याद्य-
भावसाध्यकस्थले त्वभावाभावस्य भावरूपत्वेन तस्य च भावस्य प्रतियोगिप्रामितिं
विनाऽपि सिद्धत्वात्तद्व्याप्तिः सुग्रहैवेति चेद्भ्रान्तोऽसि । व्यतिरेकस्य भावात्मत्वेऽपि
व्यतिरेकव्याप्तिकथनावस्थायां साध्याभावरूपतया कथनमवश्यंभावि । यदतिरेक्यो न
भिद्यते तद्गन्धवत्त्वमवतीति हि व्यतिरेकव्याप्तिकथनम् । अन्यथा साध्यप्रतिभटत्वा-
भावे व्यतिरेकव्यवहारानुपपत्तेः । ननु शब्दः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितः, शब्द-
त्वादित्यत्र साध्यस्य द्रव्याश्रितत्वरूपसामान्यरूपेण प्रसिद्धिरस्त्येव । शब्दः क्वचि-
दाश्रितो गुणत्वादित्यनुमानेन तत्सिद्धेरिति चेन्न । सामान्यरूपेण प्रसिद्धिसत्त्वेऽपि
साध्यतावच्छेदकरूपेण प्रसिद्धचभावात् । धूमवह्निसंबन्धप्रतिपत्तौ पदार्थत्वेन तयोः
प्रतीतिरतन्त्रत्वात् ।

नैयायिका इति । अयं हि तेषामाशयः । प्रतिज्ञावाक्यमन्तरेण न हेतुवाक्यप्र-
योगः कर्तव्यः अन्यथा हेतुत्वाप्रतीतिः । नापि हेतुप्रयोगमन्तरेणोदाहरणप्रसङ्गः ।
उदाहरणवाक्यस्य हेतुसाध्ययोर्व्याप्तिप्रदर्शनात्मकत्वात् । उदाहरणमन्तरेण च नोप-

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणरूपपञ्चवयववादिनो मीमांसकाः । उदाहरणोपनयरूपाव-
यवद्वयवादिनः सौमताः । अस्माकं त्वनियमः । क्वचित्पञ्चावयवः । क्वचित्त्रय-
वयवः । क्वचिद्वयवयवः । उदाहरणोपनयाभ्यामेव व्याप्तिपक्षधर्मयोः सिद्ध-
त्वात् । तावतैवानुमित्युपपत्तेश्च । मृदुमध्यमकठोरधियां विस्तरसंग्रहाभ्यां
व्यवहार उपपद्यत इत्यनियम एव । एवं पञ्चावयवसंयुक्तः सद्धेतुरेव बह्वय-
नुमापकः । सद्धेतुरित्युक्तत्वाद्धूपसदृशधूलीपटलान्न बह्वयनुमितिः ।

अन्ये हेतुवद्भासमाना हेत्वाभासाः । ते चासिद्धविरुद्धानैकान्तिकप्रकरण-
समकालात्प्रयापदिष्टेभेदन पञ्चमकाराः । तत्रासिद्धस्त्रिविधः—स्वरूपासिद्ध
आश्रयासिद्धो व्याप्यत्वासिद्धश्चेति । स्वरूपासिद्धो यथा—अनित्यो
जीवश्चाक्षुषत्वाद्घटवदिति । आश्रयासिद्धस्तु व्योमारविन्दं सुरभि, अरवि-
न्दत्वात्सरोजारविन्दवदिति । व्योमारविन्दमाश्रयः । स चासिद्धः । व्याप्यत्वा-
सिद्धो द्विविधः—एको व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभावादपरस्तूपाधिसद्भावात् । आद्यो
यथा—यत्सत्तत्क्षणिकमिति । क्षणिकत्वसत्त्वयोर्व्याप्तिग्राहकप्रमाणासिद्धेः ।
द्वितीयो यथा—अग्नीषोमीया हिंसाऽधर्मसाधिका, हिंसात्वात्कृतुबाह्यहिंसा-
वदिति । अत्र निषेध्यत्वमुपाधिः । अतो हिंसात्वहेतुः सोपाधिकः । साध्य-
विपरीतव्याप्तौ हेतुर्विरुद्धः । तद्यथा—नित्या प्रकृतिः कृतकत्वात्कालवत् ।

नयः । उदाहरणेन गृहीतव्याप्तिकस्य हेतोस्तेनैवाऽऽकारेण पक्षधर्मताप्रदर्शनार्थत्वादु-
नयस्य । पक्षधर्मतामात्रं हेतुवाक्यार्थो व्याप्तस्य पक्षधर्मत्वमुपनयवाक्यार्थ इति
हेतूपनययोर्भेदः । ततो निगमनम् । तच्चाऽऽवश्यकमेव । तस्य विपक्षे बाधकप्रमाणा-
भावद्योतनार्थमाश्रमानेवेति सावधारणसाध्यनिर्देशत्वात् । तत्रश्च पञ्चावयवयुक्तं वाक्य-
मेव परिपूर्णोपदेश इति ।

व्यवयव इति । यद्यप्ययं पक्षः साध्यव्यवस्थापनाभावाद्नादरणीय एव तथाऽपि
बुद्धिमतः साध्यव्यवस्थापनस्य सुलभत्वादत्रोक्त इति बोध्यम् ।

हेत्वाभासा इति । व्याप्तिः पक्षधर्मता चेति द्वयमनुमानाङ्गम् । तत्र व्याप्यभावेन
व्याप्यत्वासिद्धविरुद्धानैकान्तिका हेत्वाभासाः । साधारणानैकान्तिके हेतोर्विपक्षगा-
मित्वेन व्याप्तिविरहः । असाधारणानैकान्तिके तु सपक्षे विद्यमानेऽपि हेतोः पक्षमात्र-
वृत्तित्वेन व्याप्तिप्रदर्शनाभावाव्याप्तिविरहः । पक्षधर्मताया अभावेन स्वरूपासिद्धाश्र-
यासिद्धौ हेत्वाभासौ । प्रकरणसभे तु पक्षे साध्यनिश्चयावसादनेन व्याप्तिमङ्ग इति

कृतकत्वं हेतुः साध्याभावव्याप्तः । सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः । स च द्विविधः । साधारणोऽसाधारणश्चेति । पक्षसपक्षविपक्षवृत्तिः साधारणः । यथा शब्दो नित्यः प्रमेयत्वात्कालवत् । असाधारणस्तु विपक्षसपक्षव्यावृत्तः । यथा—भूमिर्नित्या गन्धवच्चादिति । प्रकरणसमस्तु साध्यविपरीतसाधकहेत्वन्तरवान् । यथेश्वरोऽनित्यो नित्यधर्मरहितत्वात् । ईश्वरो नित्योऽनित्यधर्मरहितत्वादिति । अयमेव सत्प्रतिपक्षः । कालात्ययापदिष्टो यथा—यस्य हेतोः साध्याभाववान्पक्षः स कालात्ययापदिष्टः । यथाऽग्निरनुष्णः, पदार्थत्वाज्जलवत् । अयं च प्रत्यक्षणोष्णत्वावधारणाद्बाधितः ।

एवमनुमाने निरूपित उपमानादेरनुमानादावन्तर्भावः । यथाऽतिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकृतगोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानमुपमानम् । गवयमजानन्नपि यथा

केचित् । स्वारसिकसंदेहापवादिनाऽपि विपरीतनिश्चयप्रसङ्गेन बाधतुल्यत्वमापाद्य पक्षधर्मताभङ्ग इत्यन्ये । व्याप्तिपक्षधर्मत्वयोर्द्वयोरपि विमर्दनेनोभयदोषापादनमितीतरे । कालात्ययापदिष्टे तु साध्यशून्ये साधनवृत्त्या व्याप्तिभङ्ग इति केचित् । सिद्धसाधनवत्साध्यसंदेहाभावात्पक्षधर्मत्वभङ्ग इत्यपरे । प्रकरणसमस्त्विति । अयं च संदिग्धः । साध्यविपरीतसाधकहेत्वन्तरदर्शनेनायं हेतुः स्वसाध्यं साधयितुमीष्टे न वेति संदेहोदयात् । अत एवायं प्रकरणसम इत्युच्यते । प्रकरणेन पक्षेण समस्तुल्यः । पक्षो हि साध्यवान्न वेति संदिह्यत इति तदर्थं प्रयुक्तो हेतुरप्यत्र स्वसाध्यं साधयितुमीष्टे न वेति संदिह्यत एवेत्युभयोः समत्वं बोध्यम् । ननु संदेहस्यानुमानाङ्गत्वात्तदुत्थापकस्यास्य कथं हेत्वाभासत्वमिति चेद्भ्रान्तोऽसि । द्विविधा खलु संदेहप्रवृत्तिः । एका स्वारसिकी सर्वानुमानसाधारणी । द्वितीया पुनः प्रतिकूलानुमानदर्शनजनिता । तत्र प्रथमैवानुमानाङ्गम् । न तु द्वितीया । शङ्कापनोदनप्रवृत्तपूर्वानुमानपरिपन्थिरूपेणानुमानान्तरेण प्रवर्तितत्वात्तस्या इति बोध्यम् । कालात्ययापदिष्ट इति । कालस्य साधनकालस्यात्ययेऽभावेऽपदिष्टः प्रयुक्तो हेतुः कालात्ययापदिष्टः । अकालप्रयुक्त इति यावत् । अयमेव बाधितसाध्यक इत्युच्यते ।

अतिदेशवाक्येति । अतिदेशवाक्यं च त्रिप्रकारम् । तत्र प्रथमं गोसदृशो गवय इति साधर्म्योपमाने । तत्स्मरणसहकृतं यद्गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानं तदेवोपामितिकरणम् । द्वितीयं च गवादिवद्द्विशफो न भवत्यश्व इति वैधर्म्योपमाने । तत्र च गोविसदृशपिण्डज्ञानमुपामितिकरणम् । तृतीयं च दीर्घग्रीवः प्रलम्बोष्ठः कटोरकण्ठकाशी पशुः क्रमेलक इत्यसाधारणधर्मोपादाने । तत्र च तादृशासाधारणधर्मविशिष्टपिण्डज्ञान-

गौस्तथा गवय इति कुतश्चिद्वारण्यकवाक्यं श्रुत्वा वनं गतो वाक्यार्थं स्मर-
न्वदा गोसादृश्यविशिष्टपिण्डं पश्यति तदा तद्राक्यार्थस्मरणसहकृतगोसादृश्य-
विशिष्टपिण्डज्ञानं जायते तदुपमानमित्युच्यते । स्मरणरूपत्वात्तस्य प्रत्यक्षेऽ-
न्तर्भावः । व्याप्तिग्रहणापेक्षत्वादानुमानेऽन्तर्भावः । वाक्यजन्यत्वाच्छब्दे
चान्तर्भावः ।

अर्थापत्तिर्नाम दिवाऽभुञ्जानस्य पुरुषस्य पीनत्वदर्शनाद्रात्रौ भोजनं
कल्पयते । एतस्यानुमानेऽन्तर्भावः । तर्को नाम व्याप्याङ्गीकारेण व्यापकप्र-
सञ्जनम् । तद्यथा पर्वतोऽग्निमान्धूभवत्त्वादित्यनुमाने धूमोऽस्तु बह्निर्माऽस्त्व-
त्युक्ते यदि बह्निर्न स्यात्तर्हि धूमोऽपि न स्यादित्येतस्य प्रमाणानुग्राहकत्वम् ।

नमुपमितिकरणम् । शब्दे चान्तर्भाव इति । यथाऽयं गौरिति व्यक्तिविशेषे गोश-
ब्दव्युत्पादनेऽपि वक्त्रभिप्रायमालोच्य न्यायानुसारेण सार्वत्रिकीं गोशब्दव्युत्पत्तिं
प्रतिपद्यन्ते बालाः । न हि बुद्धिमन्तो यावदुक्तमेव गृह्णन्ति । तथाऽतिदेशत्राक्येऽपि
बुद्धिमन्तः श्रोतारो न्यायानुसारेण गोसादृशादिचिह्नोक्तीं गवयत्वादौ व्युत्पद्यन्ते ।
नन्वातिदेशवाक्यश्रवणकाले गवयत्वादेरप्रत्यक्षत्वात्कथं शाब्दज्ञानमिति चेत् । अर्थप्र-
त्यक्षस्य शाब्दज्ञानेऽनन्वत्त्वात् । अन्यथा तैस्तैर्ऋक्षणैरिन्द्रोपेन्द्रादिशब्दानां व्युत्प-
त्तिर्न स्यात् । तदभावे वैदिकवाक्यार्थाप्रतिपत्तावनुष्ठानं न स्यादिति बहुव्याकुली
स्यात् । मायावादिनस्तु नगरेषु दृष्टगोपिण्डस्य पुरुषस्य गवयेन्द्रियसंनिकर्षे सति
भवति प्रतीतिरयं पिण्डो गोसादृश इति । तदनन्तरं च मवत्यनेन सदृशी मदीया
गौरिति निश्चयः । इयमेवोपमिति रित्याहुः । तत्र । अनुमानेऽन्तर्भावात् । तथा च
प्रयोगः—गौर्गवयसदृशो गवयस्थसादृश्यप्रतियोगित्वात् । यो यद्गतसादृश्यप्रतियोगी
स तत्सदृशः । यथा वामहस्तो दक्षिणहस्तेनेति ।

एतस्येति । तथा च प्रयोगः—देवदत्तो रात्रिभोजी दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीन-
त्वात् । जीवी देवदत्तो गृहे नेत्यत्र बहिः सत्त्वमप्यनुमानादेव सिध्यति । जीवन्दे-
वदत्तो बहिरस्ति विद्यमानत्वे सति गृहेऽसत्त्वादिति । एवमेव सर्वत्र बोध्यम् ।

तदुक्तम्—‘अनियम्यस्य नायुक्तिर्नानियन्तोपपादकः’ इति ।

अनियम्यस्याव्याप्यस्य नायुक्तिर्नानुपपद्यमानता । अनियन्ताऽव्यापको नोपपादक
इत्यर्थः । तथा च व्याप्तिरेव नामान्तेरेणानुपपत्तिरित्युच्यते इति नार्थापत्तिः प्रमाणान्तर-
मिति भावः । प्रमाणानुग्राहकत्वमिति । यदि धूमोऽपि न स्यात् ।

१ क. ख. °वाक्याच्छ्रुत्वा । २ घ. °गोसादृशपि । ३ घ. ऋदे वाऽन्त° । ४ घ. °तो बह्निः
मान्धूमाविति स्थले धूमो° ।

तर्कानुगृहीतप्रमाणपूर्वकत्वावधारणं निश्चयः । वीतरागकथा वादः । पक्षद्वय-
साधनवती विजिगीषुकथा जल्पः । स्वपक्षस्थापनहीना तु वितण्डा । अविवाक्षि-
तशब्दार्थारोपेण दूषणं छलम् । स्वव्यापि दूषणं जातिरसदुत्तरं जातिरिति

स्याच्चेत्कार्यकारणभावभङ्गः स्यादिति तर्कः । स च यत्र धूमस्तत्र वह्निरिति व्याप्तौ
कथितायां ' धूमोऽस्तु नाम परं तत्र वह्निना कथमवश्यं भवितव्यम् ' इति यदि
शङ्का समागच्छेत्तस्तादृशशङ्कापसारणद्वाराऽनुमानमनुगृह्णातीति बोध्यम् । तर्कश्च
पञ्चविधः । आत्माश्रयान्योन्याश्रयचक्रकानवस्थाकेवलानिष्टप्रसङ्गभेदात् । प्रतिबन्दीति
तु केवलानिष्टप्रसङ्गस्यैवावान्तरभेदः । तर्कान्तरमिति केचित् । दुस्तर्कस्तु त्याज्य एव ।
दुस्तर्कावल्म्बिनः कथाधामनधिकारात् । वीतरागकथेति । परस्परविरुद्धवादिनोर्व्यव-
हारः कथेति कथासामान्यलक्षणम् । सा च कथा त्रिविधा—वादजल्पवितण्डाभेदात् ।
वादे प्रमाणतर्कौ साधनम् । वीतरागोऽधिकारी । तत्त्वज्ञानं प्रयोजनम् ।

तदुक्तम्—

तत्र प्रमाणतर्कभ्यां साधनाक्षेपसंयुता ।

वीतरागकथा वादस्तत्फलं तत्त्वनिर्णयः ॥ इति ।

जयार्थी जल्पाधिकारी । अत एव स न वीतरागः । उभयोरपि वादिनोः साधन-
वत्त्वे जल्पः । अन्यतरस्य स्वपक्षसाधनवत्त्वे परस्य दूषणमात्रशरणत्वे वितण्डा ।
केचित्तु वीतरागवितण्डा विजिगीषुवितण्डेति वितण्डाद्वैविध्यमाहुः । तस्यायमाशयः—
स्वपक्षसाधनं परपक्षदूषणं साधनसमर्थनं दूषणसमर्थनं शब्ददोषवर्जनमिति पञ्चाङ्गो
वादः । एकस्मिन्वादे वादिप्रतिवादिनावधिकारिणौ । वीतरागकर्तृकवादद्वयसमुच्चयेन
वीतरागकथारूपो वादः प्रवर्तते । विजिगीषुकर्तृकवादद्वयसमुच्चयेन विजिगीषुकथारूपो
जल्पः प्रवर्तते । तत्र यथा जल्पार्थेनैकैव वादेन विजिगीषुवितण्डा तथा वादार्थेनैके-
नैव वादेन वीतरागवितण्डेति । वितण्डायामपि वादिप्रतिवादिव्यवस्थानुपालनं कर्तव्य-
मेव । सर्वत्रैव प्रमाणज्ञैः स्वपक्षसाधनादि कर्तव्यत्वेन कल्पितम् । छलजातिनिग्रह-
स्थानादि त्वकर्तव्यत्वेन कल्पितम् । तत्र च्छलमाह—अविवाक्षितेति । यथा नवकम्ब-
लोऽयं देवदत्त इति नूतनकम्बलाभिप्रायेण प्रयुक्ते वाक्ये तत्राविवाक्षितो यो नवत्वसं-
ख्याविशिष्टोऽर्थस्तमारोप्य काश्चिद्दूषयति । नास्य नवकम्बलाः सन्ति दरिद्रत्वात् ।
न ह्यस्य द्वित्वमपि संभाव्यते कुतो नवेति । स्वव्यापीति । यत्परस्य दूषणं दीयते
तत्त्वस्याप्यायातीत्यर्थः । असदुत्तरमिति । उत्तरस्यासत्त्वं स्वव्याघातकत्वम् । यथा-
पर्वतो वह्निमान्धूमान्महानसवदित्यत्र यद्ययं पर्वतो धूमवत्त्वेन महानससाधर्म्याद्बहिमा-
नस्यात्तर्हि द्रव्यत्ववत्त्वेन हृदसाधर्म्याद्ब्रह्मभाववत्त्वेन वा किं न स्यादिति । अत्र
च ब्रह्मभावसाधनेऽनयैव रीत्या महानससाधर्म्येण बहिमत्त्वमपि सिध्यताम्यस्य

वा । पराजयहेतुनिग्रहस्थानमित्येषामनुमानाङ्गत्वादनुमानेऽन्तर्भावः । क्वचित्क्वचिन्नैयाधिकमतानुसारेणोक्तमिति न विरोधः । इत्यनुमानं निरूपितम् ।

इति श्रीबाधूलकुलातिलकश्रीमन्महाचार्यस्व प्रथमदासेन श्रीनिवासदासेन
विरचितायां यतीन्द्रमतदीपिकायामनुमाननिरूपणं
नाम द्वितीयोऽवतारः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽवतारः ।

अनुमाननिरूपणानन्तरं शब्दो निरूप्यते—अनाप्तानुक्तवाक्यजनिततदर्थ-
विज्ञानं शब्दज्ञानम् । तत्करणं शब्दप्रमाणम् । अनाप्तानुक्त इत्युक्तत्वाद्देदस्य
पौरुषेयत्वमतनिरासः । करणदोषबाधकप्रत्ययाभाववद्वाक्यं वा । सर्गादौ
भगवांश्चतुर्मुखाय पूर्वपूर्वक्रमविशिष्टान्वेदान्स्मृत्वा स्मृत्योपदिशतीत्युक्त्या वेदस्य
नित्यत्वमपौरुषेयत्वं च सिद्धमिति करणदोषाभावो बाधकप्रत्ययाभावश्च ।

स्वव्यापित्वं स्वव्याघातकत्वं च बोध्यम् । सा च साधर्म्यसमादिभेदेन चतुर्विंशति-
प्रकारेति गौतमसूत्रे (९ । १ । १) स्पष्टम् । दूषणसमर्थमप्यासिद्धं छलं,
सिद्धमपि दूषणासमर्थं जातिरिति छलजात्योर्भेदः । निग्रहस्थानमिति । निग्रहस्य
खलीकारस्य स्थानं ज्ञापकमित्यर्थः । यथा—शब्दोऽनित्यः प्रत्यक्षगुणत्वादित्युक्ते परेण
सोऽयं गकार इत्यादिप्रत्यभिज्ञाबलाद्बाध उद्भावितेऽस्तु तर्हि नित्यः शब्द इति
नित्यत्वं स्वीकुर्वन्वादी प्रतिज्ञां जहाति । तच्च निग्रहस्थानं प्रतिज्ञाहान्यादिभेदेन द्वाविं-
शतिविधम् । तत्तल्लक्षणानि तु गौतमसूत्रे (९ । १ । २) ज्ञेयानि ।

इति श्रीयतीन्द्रमतदीपिकाप्रकाशे द्वितीयोऽवतारः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽवतारः ।

अनाप्तेति । नञ्द्रव्यं परित्यज्याऽऽप्तोक्तवाक्यजनिततदर्थविज्ञानमित्युक्तौ तु
वेदस्याऽऽप्तोक्तत्वासिद्धये तस्य पौरुषेयत्वं स्वीकार्यं स्यात् । करणेति । करणदोषो
बाधकप्रत्ययश्चेत्येतदुभयामावविशिष्टमित्यर्थः । अत्रायं प्रयोगः—वेदः प्रमाणं, करण-
दोषबाधकप्रत्ययरहितत्वे सति वाक्यत्वात्संप्रतिपन्नवाक्यवत् । अपौरुषेयत्वात्करण-
दोषराहित्यम् । बाधकप्रत्ययोऽपि नास्ति । स ह्यनुमानाद्वा श्रुतेर्वा स्मृतेर्वा लौकिके-

ननु वेदवाक्यानां मीमांसकैः कार्यपरतयैव प्रामाण्यस्वीकारात्सिद्धब्रह्मपर-
वाक्यानां व्युत्पत्त्यसंभवाच्च कथं प्रामाण्यमिति चेन्न । सिद्धब्रह्मपरवाक्या-
नामप्युपासनान्वयस्वीकारात् । पिता ते सुखमास्त इति लोकसिद्धपरवाक्य-
स्यापि बोधकत्वदर्शनाद्बालानां लोके मातृपितृप्रभृतिभिरम्बातातमातुल-

वाक्याद्वा । नाऽऽद्यः । तादृशानुमानस्यैवाऽऽगमबाधितत्वेनाप्रमाणत्वात् । न द्वितीयः ।
तथा सति वेदप्रामाण्यं गले पतितमेव स्यात् । न तृतीयः । तस्यावेदमूलकत्वेन तद-
बाधकत्वात् । नापि चतुर्थः । तस्यालौकिकविषये प्रवृत्त्यभावात् । तथा च वेदप्रा-
माण्यं सिद्धम् । न च संदिग्धार्थबोधकत्वरूपं ज्ञानानुत्पादकत्वरूपं वाऽप्रामाण्यं शङ्क-
नीयम् । सूक्ष्मदृशां तथाऽनुपलब्धेः । न च वेदेष्वद्भुतोक्तीनामप्रामाण्यमेवेति वाच्यम् ।
न हि वेद एवादभुतदृष्टिः । किंतु लोकेऽपि । यथोल्लादीनामन्धकारेऽपि रूपदर्शनम् ।
मान्याल्लादीनामाहारनिर्हारकरणयोरेकस्थानवर्तित्वम् । व्यालानां चक्षुःश्रवस्त्वम् ।
पक्षिषु च केषुचिद्द्वाराहारवत्त्वम् । मत्स्यकूर्मविहङ्गानामीक्षणव्यानसंस्पर्शैः पुत्र-
पोषणम् । नालिकेरद्वीपवासिनामपक्वान्नेनैव देहधारणमित्यादि ।

कार्यपरतयैवेति । वृद्धयोर्व्यवहरतोरेकतरवृद्धप्रयुक्तशब्दश्रवणसमनन्तरजनिता-
न्यतरवृद्धसमवेतचेष्टां दृष्ट्वाऽन्यथाऽनुपपत्त्युद्गीयमाना शब्दशक्तिस्तदुत्पादककार्यपर्यव-
सायिन्येवावसीयते । तदुक्तम्—

कार्ये मानान्तरापूर्वे समस्तं वैदिकं वचः ।

प्रामाण्यमिति हि प्राज्ञा मन्यन्ते मान्यबुद्धयः ॥

पदानां तत्परत्वेन व्युत्पत्तेरवधारणात् ।

न खल्वन्यपरे शब्दे व्युत्पत्तेरस्ति संभवः ॥ इति ।

उपासनान्वयेति । यद्यपि ब्रह्म सिद्धरूपं तथाऽप्युपासनायाः कार्यत्वेन
तस्याश्चाऽऽत्मा वाऽर इत्यादिवेदान्तवाक्येषु प्रतिपादितत्वेन तेषां प्रामाण्यमक्षत-
मेवेति भावः । अधिकं समाप्तोक्तौ प्रथमसूत्रशेषेऽनुसंधेयम् । पितेति । केनचित्पुरु-
षेण हस्तचेष्टादिना 'पिता ते सुखमास्ते' इति देवदत्ताय ज्ञापयेति प्रेषितो यज्ञद-
त्तस्तज्ज्ञापने प्रवृत्तः 'पिता ते सुखमास्ते' इति शब्दं प्रयुङ्क्ते । पार्श्वस्थोऽन्यो
व्युत्पित्सुभूकवच्चेष्टाविशेषज्ञस्तज्ज्ञापने प्रवृत्तं यज्ञदत्तमनुगतस्तज्ज्ञापनाय प्रयु-
क्तमिमं शब्दं श्रुत्वाऽयं शब्दस्तदर्भवुद्धिहेतुरिति निश्चिनोतीति कार्यार्थ
एव शक्तिरित्याग्रहो निर्मूल इति बोध्यम् । इदं यादृच्छिकव्युत्पत्तौ
शब्दस्य सिद्धवस्तुपरत्वं दर्शितम् । अथ बुद्धिपूर्वकव्युत्पत्तौ तद्दर्श-
यति—बालानामिति । मात्रादिर्हि पुरोवर्तिनं पशुं निर्दिश्य 'अयं गौः' इति

चन्द्रादिष्वङ्कुल्या निर्दिश्य तदभिर्घायिनः शब्दान्प्रयुञ्जानैः क्रमेण भूयः
शिक्षितानां तत्तदर्थबुद्ध्युत्पत्तिदर्शनाद्वेदेऽपि परिनिष्पन्नेऽप्यर्थे शब्दस्य बोध-
कत्वं संभवतीति नाप्रामाण्यशङ्कावकाशः । तर्ह्यभिचारादिप्रतिपादकवेदां-
शस्य कथं प्रामाण्यमिति न शङ्कनीयम् । तस्य दृष्टंफलदर्शनेनादृष्टस्वर्गादि-
फलसाधनादौ प्रवृत्तिप्रयोजकत्वात् । यूगदित्यवाक्यं त्वादित्यवद्यूपप्रकाश-
नकरम् । अतः कृत्स्नस्य वेदस्य प्रामाण्यम् ।

स वेदः कर्मब्रह्मप्रतिपादकपूर्वोत्तरभागाभ्यां द्विधा भिन्नः । आराधनकर्म-
प्रतिपादकं पूर्वकाण्डम् । आराध्यप्रतिपादकमुत्तरकाण्डम् । उभयोर्मामांसयो-
रैकशास्त्र्यम् । भागद्वयात्मको वेद ऋग्यजुःसामाथर्वरूपेण चतुर्धाऽवस्थितः ।
पुनरनन्तप्रकारश्च । ऋगादिवहुप्रकारवान्वेदो मन्त्रार्थवादविधिरूपेण त्रिविधः ।
अनुष्ठेयार्थप्रकाशको मन्त्रः । विध्यधीनप्रवृत्त्युत्तम्भकवाक्यविशेषोऽर्थवादः ।

वाक्यं प्रयुङ्क्ते । एवं बहुशः शिक्षितो व्युत्पत्सुर्बालो यदा गोशब्दं शृणोति तदा
स गोशब्द एव स्वस्वरूपेण श्रोतुस्तस्य तादृशपशुबुद्धिमुत्पादयति । ततोऽस्य पशो-
र्गोशब्दस्य च कश्चन संबन्धोऽस्तीति सोऽवधारयति । तत्र च जन्यजनकभावादीना-
मितरसंबन्धानामसंभवात्स्वामागविको बोध्यबोधकभाव एव संबन्ध इति शब्दार्थसंबन्ध-
ग्रहणप्रकारो लोके प्रसिद्ध एव । अभिचारादीति । अभिचारो मारणम् । शत्रुवध
इत्यर्थः । तत्प्रतिपादको वेदश्च ' श्येनेनाभिचरन्त्यजेत ' इत्यादिः ।

स वेद इति । वेदसामान्यलक्षणं त्वलौकिकोपायबोधकत्वम् । इष्टप्राप्त्यनिष्टप-
रिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेद इति तदर्थत् । पूर्वोत्तरोति । पूर्व-
भागः ' अग्निमीले ' ' इषे त्वोर्जे त्वा ' इत्यादिः । उत्तरभाग उपनिषद्रूपः । ऐक-
शास्त्र्यमिति । उभयत्रापि धर्मस्यैव प्रतिपाद्यमानत्वात् । अलौकिकं श्रेयःसाधनं हि
धर्मः । स च साध्यरूपः क्रियादिः पूर्वभागेन प्रतिपाद्यते । सिद्धस्तु ब्रह्मरूपो धर्म उत्त-
रभागेन प्रतिपाद्यते । सिद्धरूपे वस्तुनि धर्मशब्दप्रयोगो महाभारते दृश्यते । यथा—

ये च वेदविदो विप्रा ये चाध्यात्मविदो जनाः ।

ते वदन्ति महात्मानं कृष्णं धर्मं सनातनम् ॥ इति ।

ऋग्यजुरिति । पादेनार्थेन चोपेता वृत्तबद्धा मन्त्रा ऋचः । वृत्तगीतिवार्जि-
तत्वेन प्रश्लिष्टपठिता मन्त्रा यजुषि । गीतिरूपा मन्त्राः सामानि । एतन्मिश्रितोऽथर्व-
वेदः । एवं चाद्युर्विद्येऽप्यथर्ववेदस्य त्रिष्वन्तर्भूतत्वेन वस्तुतस्त्रैविध्यमेवेति त्रयीशब्दे-
नापि तस्य प्रसिद्धिरिति बोध्यम् । मन्त्रेति । प्रयोगसमवेतार्थस्मारको मन्त्रः । यथा
' अग्निमीले ' इत्यादिः । विध्यधीनप्रवृत्तीति । प्रवृत्तिपदं निवृत्तेरप्युपलक्षणम् ।

हितानुशासनवाक्यमिह विधिः । स च त्रिविधः—अपूर्वपरिसंख्यानियमभेदात् । ते पुनर्नित्यनैमित्तिककाश्यादिभेदाद्बहुविधाः । त्रीहीन्प्रोक्षतीत्यपूर्वविधिः । मनोमयत्वाद्युपासनविधिर्विशिष्टविधिः । इमामगृष्णमन्नित्यश्वरशनाविधिः परिसंख्याविधिः । गुर्वाभिगर्भनविधिर्नियमविधिः । संध्योपासनादिविधिर्नित्यविधिः । जातेष्ट्यादिविधिर्नैमित्तिकविधिः । ज्योतिष्टोमादिविधिः काश्यविधिः ।

एवं विध्यर्थवादमन्त्रात्मकस्य वेदस्य च्छन्दः कल्पः शिक्षा निरुक्तं ज्योतिषं व्याकरणमित्येतान्यङ्गानि । छन्दोऽनुष्टुप्त्रिष्टुवादि । श्रौतस्मार्तप्रतिपादनपरः कल्पः । शिक्षा वर्णात्मिका । निरुक्तं पूर्वार्थप्रतिपादकम् । ज्योतिषमध्ययनतदर्थानुष्ठानकालनिर्णयात्मकम् । व्याकरणं तु शब्दस्वरादिसमर्थनपरम् । एवं साङ्गस्य वेदस्य प्रामाण्यं सिद्धम् ।

उत्तमकः साधकः । अयं च विधिनिषेधान्यतरशेषभूतः । प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवाद इति यावत् । यथा—‘ वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता ’ (तै० सं० २।१।१) इत्यादि । ‘सोऽरोदीत्’ (तै० सं० १।९।१) इत्यादि च । आद्ये ‘ वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः ’ इति विहितश्वेतपश्वालम्भनस्य प्रशंसा । अन्त्ये ‘ ऋत्विग्भ्यो रजतं न देयम् ’ इति निषिद्धस्य रजतदक्षिणादानस्य निन्दा । प्रकारान्तरेण पुनस्त्रिविधः—गुणवादोऽनुवादो भूतार्थवादश्चेति । तदुक्तम्—

विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते ।

भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः ॥ इति ।

आदित्यो यूप इति गुणवादः । अग्निर्हिंस्य भेषजमित्यनुवादः । वज्रहस्तः पुरंदर इति भूतार्थवादः । परकृतिपुराकल्पावप्यर्थवादविशेषावेव । अन्यकर्तृकस्य व्याहृतस्य विधेर्वादः परकृतिः । ऐतिह्यसमाचरितो विधिः पुराकल्पः । पुराकल्पे ह्यवमासीदित्यादिः । अपूर्वेति । कालत्रयेऽपि कथमप्यप्राप्तस्य प्राप्तिफलको विधिरपूर्वविधिः । कथमपीत्यस्य दृष्टार्थत्वेनादृष्टार्थत्वेन वेत्यर्थः । यथा त्रीहीन्प्रोक्षतीति । नात्र त्रीहीणां प्रोक्षणस्य संस्कारकर्मणो विनियोगं विना मानान्तरेण कथमपि प्राप्तिरस्ति । विशिष्टविधिरप्यपूर्वविधिरेव । क्वचिद्विशिष्टविधौ सामान्यरूपेण प्राप्तावपि विशेषरूपेण कथमप्यप्राप्तिरेव । परिसंख्येति । सर्वत्र प्राप्तस्य क्वचिद्विधिरितरनिवृत्तिफलकः परिसंख्याविधिः । इमामगृष्णमन्निति मन्त्रो रशनाग्रहणप्रकाशनरूपाल्लिङ्गादेव प्राप्नोतीति ‘अश्वामिधानीमादत्ते’ इति न तत्प्राप्त्यर्थो विधिः । किंतु गर्दभरशनाग्रहणेऽपि मन्त्रः प्राप्नुयादिति तन्नित्यर्थः । नियमविधिरिति । पक्षप्राप्तस्याप्राप्तांशपरिपूरणफलको विधिर्नियमविधिः ।

अथ श्रुत्यविरुद्धाचारव्यवहारप्रायश्चित्तादिप्रतिपादकप्रपणीता स्मृतिः प्रमाणम् । हिरण्यगर्भादीनामाप्तत्वेऽपि तेषां गुणत्रयावश्यकत्वसंभवात्तत्कर्तृकयोगकपिलादिस्मृतीनां मन्वादिस्मृत्यविरुद्धांश्च एव प्रमाणम् । तत्त्वविपर्यासाद्विरुद्धांश्चोऽप्रमाणम् । वेदोपबृंहणरूपेतिहासपुराणयोरपि प्रामाण्यं स्वतः सिद्धम् । तत्र भारतरामायणयोः क्वचिद्विरोधभानेऽपि तत्त्वांशे वेदान्तवाक्यवदविरोधो ज्ञेयः । सर्गादिपञ्चप्रतिपादकपुराणेष्वपि सात्त्विकराजसतामस-

वेदोपबृंहणेति । तदुक्तम्—

इतिहासपुराणाम्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।

बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रत[ह]रिष्यति ॥ इति ।

उपबृंहणं नाम विदितसकलवेदतदर्थानां स्वयोगमहिमसाक्षात्कृतवेदतत्त्वांथानां वाक्यैः स्वावागतवेदवाक्यार्थव्यक्तीकरणम् । सकलशाखानुगतस्य वेदवाक्यार्थस्याल्पभागश्रवणाद्दुरवगमत्वेन तेन विना निश्चयायोगादुपबृंहणं हि कार्यमेवेति श्रीभाष्यकृद्भिः प्रतिपादितम् । स्वतः सिद्धमिति । मूलभूतश्रुत्यनुमानादेवेत्यर्थः । सर्गादीति । तदुक्तम्—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।

वंश्यानुचारितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥ इति ।

तच्च त्रिविधम्— सात्त्विकराजसतामसभेदात् । तदुक्तं पद्मपुराणे—

वैष्णवं नारदीयं च तथा भागवतं शुभम् ।

गारुडं च तथा पाद्मं वाराहं शुभदर्शने ॥

सात्त्विकानि पुराणानि विज्ञेयानि शुभानि वै ॥

ब्रह्माण्डं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं तथैव च ।

भविष्यं वामनं ब्राह्मं राजसानि निबोधत ॥

मात्स्यं कौर्मं तथा लैङ्गं शैवं स्कान्दं तथैव च ।

आग्नेयं च षडेतानि तामसानि निबोधत ॥ इति ।

सात्त्विकादिविभागे कारणं मात्स्ये प्रदर्शितम्—

अग्नेः शिवस्य माहात्म्यं तामसेषु प्रकीर्त्यते ॥

राजसेषु च माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः ।

संकीर्णेषु सरस्वत्याः पितॄणां च निगद्यते ॥

भेदभिन्नेषु तत्त्वांशे विरोधाभावाद्विरुद्धांशोऽप्रमाणमन्यत्सर्वं प्रमाणम् । पाशु-
पताद्यागमा अपि तथैव । आगमदिव्यतन्त्रतन्त्रान्तरसिद्धान्तभेदाभिन्नस्य
श्रीपञ्चरात्रागमस्य कचिदपि वेदविरोधाभावात्कात्स्न्येन प्रामाण्यम् ।

सात्त्विकेष्वथ करुषु माहात्म्यमधिकं हरेः ।

तेष्वेव योगसंसिद्धा गमिष्यन्ति परां गतिम् ॥ इति ।

अन्यत्सर्वमिति । अन्ये तु श्रुत्यविरोधिनां सात्त्विकानामेव पुराणाना-
मुपादेयत्वं न पुनः श्रुतिविरोधिनां राजसानां तामसानां च पुराणानामुपादेयत्वम् ।
तेषां संसारवर्धनाय भगवत्प्रवर्तितैः पितामहादिभिः प्रवर्तितत्वान्न सात्त्विकपरिग्राह्य-
त्वम् । यतः श्रुत्युक्तमेवानुसरन्ति सत्त्वोत्तराणि पुराणानि । तामसानि पुनरप्रमाणान्येवे-
त्याहुः । पाशुपतादीति । अत्र च श्रुतिविरोधभूयस्त्वात्तत्सत्त्वोत्तरस्मृतिपुराणादितुल्यत्वं
नास्ति । तथा च कचित्सत्त्वोत्तरांशसद्भवेऽपि न सार्वत्रिकविश्वासास्पदत्वमिति भावः ।
तदुक्तं सूतसंहितायाम्—

तथाऽपि योऽशो मार्गाणां वेदेन न विरुध्यते ।

सोऽशः प्रमाणमित्युक्तः केषांचिदधिकारिणाम् ॥ इति ।

आदिना कापिलसंग्रहः । यद्यपि सांख्यस्य 'सांख्यं योगः पाञ्चरात्रम्'
इति वेदैः सह कथनं तथाऽपि श्रुतिविरोधे तस्य बाध्यत्वमेव । न हि साधर्म्यमात्रेण
वैधर्म्यं निवार्यते । अपामग्निना सह द्रव्यत्वसाधर्म्येण स्पर्शकृतवैधर्म्याभावप्रसङ्गात् ।
वेदविरोधाभावादिति ।

'पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम्'

इति भगवदभिहितत्वेन कर्तृदोषसंभावनाया अप्यभावाच्च ।

पाञ्चरात्रं भागवतं तन्त्रं वैखानसाभिधम् ।

वेदभ्रष्टान्समुद्दिश्य कमलापातिरुक्तवान् ॥

इत्यत्र वेदभ्रष्टानित्यस्यासंदिग्धवेदार्थज्ञानामाववत इत्यर्थो बोध्यः । अत एव-

अलाभे वेदमन्त्राणां पञ्चरात्रोदितेन हि ।

आचारेण प्रवर्तन्ते ते मां प्राप्स्यन्ति मानवाः ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां पञ्चरात्रं विधीयते ।

शूद्रादीनां न तच्छ्रोत्रपदवीमुपयास्यति ॥

इति वराहपुराणे भगवतोक्तम् । ननु तत्कर्तरि भगवति मा भूद्विभ्रमः । विप्र-
लिप्सा तु स्यादेव । दृष्टा हि भगवतोऽपि विप्रलिप्सा—

एवं वैखानसागमस्यापि ।

धर्मशास्त्राणामपि तथैव । शाण्डिल्यपाराशरभरद्वाजवसिष्ठहारीतादयो धर्म-
शास्त्रमणेतारः । शिल्पायुर्वेदगान्धर्वभरतादिकमप्युपयुक्तानि तथैव । शिल्पो
नाम कर्षणादिगोपुरमाकारनिर्माणादिप्रतिपादकः । आयुर्वेदो वैद्यकम् ।
गान्धर्वो नाम गानादिनिरूपकः । भरतागमो नृत्यादिनिरूपकः । पुनश्चतुः-
षष्टिकलारूपेषु शास्त्रेषु तत्त्वोपायपुरुषार्थोपयुक्तानि प्रमाणानि । बकुलाभर-

‘ त्वं हि रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारय ’

इत्यादौ क्षिपाम्यजस्रमशुभानित्यादौ चेति चेन्न । द्विधा खलु भगवतः प्रवृत्तिः—
असुरमोहनार्थमाश्रितसंरक्षणार्थं च । पञ्चरात्रे सत्त्वोत्तरजनसंरक्षणार्थमेव प्रवृत्तिः ।
अत एव सत्त्वोत्तराः शाण्डिल्यादय एव तच्छास्त्रप्रवक्तारः । अतो नैतच्छास्त्रं विप्र-
लिप्सामूलकम् । न च साङ्गेषु वेदेषु निष्ठामलभमानः शाण्डिल्यः पञ्चरात्रतन्त्रमधी-
तवानिति वेदाच्छ्लैष्ठ्यवचनं पञ्चरात्रस्य वेदविरोधरूपापकमिति वाच्यम् । शाण्डि-
ल्यस्य पञ्चरात्रशास्त्राभ्यासपर्यन्तं वेदवाक्यादर्धप्रतिपत्तिर्विशदा नाभूदिति तत्तात्पर्यात् ।
यथा भूमविद्योपक्रमे तद्विद्याप्रशंसार्थमृग्वेदं भगवोऽध्येमीत्यादिना कृत्स्नस्यापि वेद-
स्यानादरेण ज्ञानहेतुत्वाभावमुक्त्वा भूमविद्याया एव ज्ञानहेतुत्वं स्वी क्रियते । नैता-
वता भूमव्यतिरिक्तविद्यानिन्दा । अपि तु भूमविद्याप्रशंसैव । तद्वदत्रापीति बोध्यम् । न
च ‘ वासुदेवात्संकर्षणो नाम जीवो जायते ’ इति पञ्चरात्रोक्ता जीवोत्पत्तिर्वेदविरु-
द्धेति वाच्यम् । शरीराद्यभिप्रायेण तथोक्तेः । ‘ यतो वा इमामि भूतानि जायन्ते ’
(तै. उ. ३।१।१) इतिवत् । एवमिति । वैखानसागमस्यापि साक्षाद्भगवदुक्तत्वा-
त्कात्स्न्येन प्रामाण्यमिति भावः ।

चतुःषष्टिकलेति । चतुःषष्टिकलाश्च शैवतन्त्रोक्ताः श्रीमद्भगवतटीकायां (द. पू.
अ. ४९ श्लो. ३६) श्रीधरस्वामिभिर्निर्दिष्टाः । तथा हि—गीतम् १ वाद्यम् २ नृत्यम्
३ नाट्यम् ४ आलेख्यम् ५ विशेषकच्छेत्रम् ६ तण्डुलकुपुमबलिप्रकाराः ७ पुष्पा-
स्तरणम् ८ दशनवसनाङ्गरागाः ९ मणिभूमिकार्कम् १० शयनरचनम् ११ उदकवाद्यम्
१२ उदकघातः १३ चित्रयोगाः १४ माल्यग्रथनविकल्पाः १५ शेखरापीडयोज-
नम् १६ नेपथ्ययोगाः १७ कर्णपत्रमङ्गाः १८ सुगन्धयुक्तिः १९ भूषणयोजनम्
२० ऐन्द्रजालम् २१ कौतुमारयोगाः २२ हस्तलाघवम् २३ चित्रशाकापूपभक्षवि-
कारक्रिया २४ पानकरसरगासवयोजनम् २५ सूचीकर्म २६ सूत्रक्रीडा २७ प्रहे-
लिका २८ प्रतिमाला २९ दुर्वचकयोगाः ३० पुस्तकवाचनम् ३१ नाटकारुणायिका-

णादिसूरिसूक्तयः कात्स्न्येन प्रमाणतराः । श्रीमद्रामानुजाचार्यप्रभृतिभिः प्रणीताः श्रीभाष्यादिप्रबन्धाः प्रमाणतमाः । पुरुषस्वातन्त्र्याधीनरचनाविशेष-
विशिष्टं पौरुषेयम् । एतेन काव्यनाटकालंकारादीनामपि लक्षणमुक्तं स्यात् ।
एवमाकाङ्क्षायोग्यतासंनिधिमल्लौकिकवाक्यान्वयि प्रमाणानि । यथा नद्या-
स्तीरे पञ्च फलानि सन्तीत्यादीनि ।

एवं वैदिकलौकिकसाधारणं द्विविधम्—मुख्यवृत्तिगौणवृत्तिभेदात् ।
मुख्यवृत्तिरभिधावृत्तिः । यथा—सिंहशब्दस्य मृगेन्द्रे । साऽभिधावृत्तिर्योगरू-
ढ्यादिभेदवशाद्बहुविधा । मुख्यार्थवाचे सति तदासन्नेऽर्थे वृत्तिरौपचारिकी ।
सा द्विधा—लक्षणागौणीभेदात् । प्रथमा यथा—गङ्गायां घोष इत्यत्र घोषा-

दर्शनम् ३२ काव्यसमस्याभूरणम् ३३ पट्टिकोवेदत्राणविकल्पाः ३४ तर्ककर्माणि
३५ तक्षणम् ३६ वास्तुविद्या ३७ रूप्यरत्नपरीक्षा ३८ वातुवादः ३९ मणिराग-
ज्ञानम् ४० आकरज्ञानम् ४१ वृक्षायुर्वेदयोगाः ४२ मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधिः
४३ शुकसारिकाप्रलापनम् ४४ उत्सादनम् ४५ केशमार्जनकौशलम् ४६ अक्षर-
मुष्टिकाकथनम् ४७ म्लेच्छितकुतर्कविकल्पाः ४८ देशभाषाज्ञानम् ४९ पुष्पशक-
टिकानिमित्तज्ञानम् ५० यन्त्रमातृकाधारणमातृका ५१ संवाच्यम् ५२ मानसी
काव्यक्रिया ५३ अभिधानकोशः ५४ छन्दोज्ञानम् ५५ क्रियाविकल्पाः ५६ छलि-
तकयोगाः ५७ वस्त्रगोपनानि ५८ द्यूतविशेषः ५९ आकर्षक्रीडा ६० बालक्रीडन-
कानि ६१ वैनायिकानाम् ६२ वैजयिकानाम् ६३ वैतालिकानां च विद्यानां ज्ञानम्
६४ इति । एवमाकाङ्क्षेति । आकाङ्क्षा चैकपदार्थज्ञाने तदर्थान्वययोग्यार्थस्य
यज्ज्ञानं तद्विषयेच्छा । सा च पुरुषनिष्ठाऽपि विषयभूतेऽर्थे आरोप्यते । तादृशाका-
ङ्क्षारहितार्थबोधकं वाक्यमप्रमाणम् । यथा गौरश्वः पुरुषो हस्तीत्यादि । योग्यता च
परस्परान्वयप्रयोजकधर्मवत्त्वम् । तेनाग्निना सिञ्चतीति वाक्यमप्रमाणम् । अग्नौ सेका-
न्वयप्रयोजकद्रवद्रव्यत्वयोग्यताया अभावात् । प्रकृतान्वयबोधानुकूलपदाव्यवधानं सं-
निधिः । तेन गिरिर्भुक्तमग्निमान्देवदत्तेनेति वाक्यमप्रमाणम् । तथैव प्रहरे प्रहरेऽ-
सहोच्चारितानि गामानयेत्यादिपदानि न प्रमाणानीति बोध्यम् ।

योगरूढ्यादीति । आदिना योगरूढिसंग्रहः । तत्र शास्त्रकल्पितावयवार्थनिरूपिता
शक्तियोगः । यथा—पाचकादौ । शास्त्रकल्पितावयवार्थमानाभावे समुदायार्थनिरूपितशक्ती
रूढिः । यथा—मणिनूपुरादौ । शास्त्रकल्पितावयवार्थान्वितविशेषभूतार्थनिरूपिता शक्ति-

धिकरणस्य बाधात्तीरे लक्षणा । द्वितीया यथा—सिंहो देवदत्त इत्यत्र देव-
दत्ते शौर्यादिगुणयोगः ।

एवं वैदिकलौकिकरूपं सर्वं वाक्यजातं सविशेषविषयकं भेदविषयकं च ।
शरीरवाचकशब्दानां यथा शरीरिणि पर्यवसानम्, एवं भगवच्छरीरभूतब्रह्म-
रुद्राग्नीन्द्रादिचिद्वाचकशब्दानां तथा शरीरभूतभूमितिकालाकाशभाणाद्यचिद्वाच-
कशब्दानां शरीरिणि परमात्मनि श्रीनारायणे पर्यवसानमुपपादयन्त्याचार्याः ।
वेदान्तज्ञानाद्व्युत्पत्तिः पूर्वत इत्युक्तम् । नारायणस्य सर्वशब्दवाचकत्वं

योगरूढिः । यथा पङ्कजादौ । यौगिकरूढिरपि चतुर्थी वृत्तिरस्तीत्येके । महायोगा-
ख्याऽपि काचिद्वृत्तिरस्तीत्यन्ये ।

सविशेषेति । शब्दस्य हि द्विवा प्रवृत्तिः । पदरूपेण वाक्यरूपेण च । तत्र
प्रकृतिप्रत्यययोगेन पदत्वम् । यथा पाचक इति । अत्र 'पच्' इति प्रकृतेः पचनमर्थः ।
ण्वुल्प्रत्ययस्य च कर्तृरूपोऽर्थः । तयोः संवन्वेन पाचकशब्दात्पचनकर्तृत्वं यद्बु-
ध्यते स एव विशेष इति प्रथमतः पदमेव तावत्सविशेषवस्तुप्रतिपादकं भवतीति
तत्समुदायरूपस्य तत्तत्पदार्थसंसर्गरूपवाक्यार्थप्रतिपादकस्य वाक्यस्य सविशेषवस्तु-
प्रतिपादकत्वमवर्जनीयमेव । अत एव च वाक्यस्य भेदविषयकत्वमपि सिद्धं भवति ।
सर्वत्र विशेषतद्युक्तवस्तुनोर्धर्मधर्मिणोर्भेदेनैव प्रतीयमानत्वात् । एतेन 'तत्त्वमसि'
(छा. ६ । ८ । ७) इत्यादिवाक्यानि निर्विशेषाद्धितीयब्रह्मरूपवस्तुप्रतिपादका-
नीति मायावाद्युक्तमपास्तम् । नन्वेवं तत्त्वमस्तीत्यत्र तत्त्वंपदार्थयोः सामानाधिकरण्यं
कथमुपपद्यते । तथा 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ. २।४।९) इत्यत्रापीति चेत्त्राऽऽह—
शरीरवाचक इति । अयं देवोऽयं मनुष्य इत्यादौ देवादिशब्दा न केवलजीववाचकाः ।
किञ्च शरीरवाचकाः । शरीररहिताना जीवानां साम्येन तेषु देवत्वादिप्रयोजकभेदक-
धर्माभावत् । तत्रापि न केवलशरीरवाचकाः । किञ्च तेषां शरीरिणि पर्यवसानम् ।
अन्यथा देवो मनुष्यः सुखी दुःखीत्यादिप्रयोगासंगतेः । शरीरस्य सुखादिशैष्ट्यामा-
वात् । सर्वत्र शब्दार्थनिर्णये प्रयोग एव शरणम् । वेदेऽपि 'पञ्चदशरात्रा देवत्वं
गच्छन्ति' इत्यादिप्रयोगा दृश्यन्ते । न हि यज्ञकर्तृणां शरीरत्वप्राप्तिः । तदुक्तं
सर्वार्थसिद्धौ—अपृथक्सिद्धविशेषगतमेव व्यवहारनियमे तन्त्रम् । अस्ति चापृथक्-
सिद्धत्वं शरीरिणा शरीरस्येति । एवमिति । तथा च जीववाचकानां जडवाचकानां

सर्वशरीरत्वमित्यादिकं तूपरीश्वरानिरूपणे प्रतिपादयिष्यामः । इति शब्दो
निरूपितः ।

इति श्रीवायूलकुलतिलकश्रीमन्महाचार्यस्य प्रथमदशमेन श्रीनिवास
दासेन विरचितायां यतीन्द्रमतदीपियां शब्दनिरूपणं
नाम तृतीयोऽवतारः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽवतारः ।

प्रमाणनिरूपणानन्तरं प्रमेयं निरूप्यते—एकवर्णेण मेयं प्रमेयम् । तच्च
द्विविधम्—द्रव्याद्रव्यभेदात् । द्रव्यमुपादानम् । अवस्थाश्रयमुपादानम् ।
ननु द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्त पदार्था इति मता-
न्तरस्यैः सप्तत्रा परिगणनात्कथं द्रव्याद्रव्यभेदेन द्वेषा समर्थनमिति चेद्-
च्यते—उत्क्षेपणापक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणगमनभेदात्कर्म पञ्चत्राऽवस्थितमिति
कल्पने गौरवाच्चलनात्मकं कर्मत्पेकथैवोपपत्तेस्तस्यापि संयोगमादायैवोप-
च शब्दानां तत्तद्विशेषगविशिष्टपरमात्मपर्यन्तार्थप्रतिपादकत्वेन नोक्तश्रुत्युक्तज्ञानाना-
धिकरणानुपपत्तिरिति बोध्यम् ।

इति श्रीयतीन्द्रमतदीपिकाप्रकाशे तृतीयोऽवतारः ॥

अथ चतुर्थोऽवतारः ।

द्रव्याद्रव्येति । ननु द्रव्यसिद्धावेवाद्रव्यसिद्धिः । अद्रव्यस्य द्रव्यप्रतियोगित्वेन
द्रव्यासिद्धावासिद्धेः । तथा द्रव्यमप्यद्रव्यसिद्धिपूर्वकमेव । अवस्थाश्रयत्वं द्रव्यत्वमिति
हि द्रव्यलक्षणं वाच्यम् । तच्च न संभवति । अवस्थाया अद्रव्यत्वेनाद्रव्यासिद्धाव-
स्थाया अनिरूपणात् । तथा चान्योन्यसापेक्षत्वाद्द्रव्यमद्रव्यमिति द्वयमपि न सिध्य-
तीति चेन्नैवम् । किं द्रव्याद्रव्ययोरुपलम्भानुपपत्तिरन्योन्यापेक्षयोच्यते, व्यवहारानु-
पपत्तिर्वा । न तावदुपलम्भानुपपत्तिः । एकस्मिन्नेव क्षणे विशेषगविशेष्ययोरैकज्ञान-
ग्रहणयोग्ययोर्विशेषगविशेष्यभावेनोपलम्भात् । नापि व्यवहारानुपपत्तिः । व्यवहारो
हि व्युत्पत्त्यधीनः । व्युत्पत्तिश्च द्रव्याद्रव्यशब्दयोर्बुद्ध्युत्पत्त्यायत एव । युगपदेवोपल-
म्भमानयोराधाराधेययोरनयोरनुक्रमाद्द्रव्याद्रव्यशब्दौ वाचकाविति । तथा च द्रव्याद्र-
व्यशब्दयोर्बुद्ध्युत्पत्तौ व्यवहारे प्रतीतौ च परस्परपौर्वापर्यभावान्न काऽप्यनुपपत्तिः ।

गौरवादिति । तत्तद्विशेषभेदेन दशविधत्वस्यापि प्रसङ्गाच्चैत्यपि बोध्यम् । संयोग-
मादायेति । यो हि संयोगः कर्मजन्यतयाऽभ्युपेयते स एव तादृशकर्महेतुतयाऽभ्यु-

पक्षेः संस्थानमेव जातिरिति संस्थानातिरेकिसामान्यानङ्गीकारात्समवायस्य समवायान्तराङ्गीकारेऽनवस्थानात्तस्यापि संयुक्तविशेषणतयैवोपपत्तेर्जीवेश्वरयोरणुत्वविभुत्वादिभिर्भाजकधर्ममन्तरेण 'विशेष' इति किञ्चित्पदार्थाङ्गीकारे

पगतैः प्रयत्नादृष्टादिभिर्जन्यताम् । न तु मध्ये कर्म । गौरवात् । न हि मध्ये किमपि विशदमुपलभ्यते । येन गौरवपरिहारः स्यात् । तथा च संयोग एव कर्म । ननु तथात्वे भूतलघटयोः संयोगो यावदुपलभ्यते तावद्घटश्चलतीति व्यवहारः कुतो न भवतीति चेन्न । संयोगसंतानैरन्तर्यप्रतीतिश्चलतीति व्यवहारहेतुत्वाङ्गीकारेणादौषात् । यथा भ्रमणे सत्यपि प्रतिक्षणं न भ्रमतीति व्यवहारः किंतु निरन्तरतयाऽनुसंधीयमानेष्वेव क्षणेषु तथैवात्रेति बोध्यम् । न च कर्मणा संयुज्यत इति पृथग्व्यपदेशाद्भेदसिद्धिरिति वाच्यम् । तत्र कर्मशब्दस्य पूर्वसंयोगविश्लेषार्थकत्वात् । संस्थानमेवेति । तदुक्तं श्रीभाष्ये—संस्थानातिरेकिणोऽनेकेष्वेकाकारबुद्धिबोध्यस्यादर्शनात्तावतैव गोत्वादिजातिव्यवहारोपपत्तेरतिरेकवादेऽपि संस्थानस्य संप्रतिपन्नत्वाच्च संस्थानमेव जातिः, इति । संस्थानमवयवसंनिवेशः । किंचानुवृत्तधीरेव सर्वत्र जातिभङ्गवे प्रमाणमिति वदद्भिः सर्वशरीरेषु शरीरत्वजातिः कुतो न स्वीक्रियते । पृथिवीत्वादिना सांकर्यादिति चेद्घटत्वमपि तथैवास्तु । तस्यापि पृथिवीत्वादिना सांकर्यात् । सुवर्णस्य तैजसत्वेन पृथिवीत्वाभाववति सुवर्णघटे घटत्वस्य विद्यमानत्वात् । समवायस्येति । समवायो हि न प्रत्यक्षः । अपृथक्सिद्धयोर्वस्तुनोः स्वरूपसिद्धयस्य समवायाख्यसंबन्धस्यानुपलभ्यमानत्वात् । ननु घटत्वविशिष्ट इत्यादिव्यवहारानुपपत्त्या स कल्प्यत इति चेत्समवायविशिष्टव्यवहारानुपपत्त्या पुनरपि समवायान्तरं कल्पयमित्यनवस्था स्यात् । अथैतदनवस्थापरिहारार्थं घटघटत्वाभ्यामेष समवायः स्वभावादेव संबध्यत इत्युच्यते तर्हि घटघटत्वे एव स्वभावान्मिथः संबध्येताम् । किंचैवं ज्ञानार्थयोरपि विषयविषयिभावादिकं स्वभावातिरेकेण समवायवदन्यदेव संबन्धान्तरं कल्प्यं स्यात् । तथा च संयुक्तविशेषणतैव समवायो नान्यत्पदार्थान्तरमिति भावः । जीवेश्वरयोरिति । अणुत्वादयो धर्मा एव विशेषा नान्यत्पदार्थान्तरम् । गौरवात् । यद्यपि समेषु जीवेषु मिथो विभाजकधर्मः स्वभावविका न सन्ति तथाऽपि देशकालजातिगुणाकारादिभेदेनौपाधिकाः सन्त्येव । मुक्तानामपि भूतपूर्वैरमुक्तदशायां विद्यमानैरुपलक्षणतयाऽवस्थितैर्भेदा ज्ञानं शक्यते । योगिनश्चामुं भेदं जानन्त्येव । ननु समानजातीयत्वादिविशेषणविशिष्टा मुक्तात्मानः परमाणवश्च परस्परव्यावर्तकधर्मवन्तो द्रव्यत्वाद्धटादिवादित्यनुमानेन विशेषसिद्धिरिति वाच्यम् । पृथक्त्वेन सिद्धसाधनात् । यदि पृथक्त्वत्वरूपैकजात्या क्रोडीकृतैः पृथक्त्वैर्वस्तूनामितरेतरव्यावर्तनं न स्यादित्युच्यते तर्हि विशेषेष्वपि तुल्यम् । तेषामपि विशेषत्वरूपैकोपाधिकोडीकृतत्वात् । किंच कल्प्यमानस्य विशेषस्य न काण्ड्ययोगः । तथा हि—न तावदीश्वरस्य भेदधियमुत्पा-

गौरवादतः कर्मसामान्यविशेषसमवायानां पृथग्द्रव्यत्वेनानङ्गीकाराच्च द्रव्य-
मद्रव्यमिति द्विविधो विभाग उपपद्यते ।

एतेनाभावः सप्तमपदार्थ इत्यपि निरस्तम् । अभावस्य भावान्तररूपत्वात् ।
प्रागभावो नाम पूर्वावस्थापरम्परा । प्रध्वंसाभावो नामोत्तरावस्थापरम्परा ।
अत्यन्ताभावान्योन्याभावौ तु धर्म्यन्तरस्वरूपावेव । एतस्य प्रत्यक्षेऽन्तर्भावः
पूर्वमुक्तः । उपादानं द्रव्यमित्युक्तम् । गुणाश्रयो द्रव्यमिति सामान्यलक्षणं
संभवति ।

तानि च द्रव्याणि षट्-प्रकृतिकालशुद्धसत्त्वधर्मभूतज्ञानजीवेश्वरभेदात् । तत्र
जडाजडरूपयोर्विभक्तयोर्मध्ये जडलक्षणमुच्यते-अभिश्चसत्त्वरहितं जडम् । तद्-
द्विविधम्-प्रकृतिकालभेदात् । तत्र सत्त्वरजस्तमोरूपगुणत्रयाश्रयरूपा प्रकृतिः ।

दयन्ति विशेषाः । तद्धियो नित्यत्वात् । नाप्यस्माकम् । विशेषाणामस्मददृश्यत्वाभा-
वात् । नापि योगिनाम् । तेषां सर्वज्ञत्वेन तत्तद्रूपेण सर्ववस्तुप्रकाशोऽस्त्येवेति विशे-
षानुपयोगात् । पृथक्त्वेन सिद्धेश्चेति ।

अभावस्येति । यो देशकालादिभेदो वस्तुस्वभावनियामकः स एव लाघवादभाव-
व्यवहारस्यापि नियामकोऽस्तु । किमतिरिक्ताभावकरपनेन । अनुपलब्धेश्च । न च
रूपादीनामप्याश्रयव्यतिरेकेणानुपलम्भात्त्यागप्रसङ्ग इति वाच्यम् । तेषामनन्यथासिद्ध-
बुद्धिसिद्धत्वात् । अभावस्य तु भावविशेषैरेवान्यथासिद्धत्वेन त्यागः समुचित एव ।
अथ भावस्य कथमभावत्वमिति चेद्भवतोऽपि कथमभावाभावस्य भावत्वमिति विभा-
वय । प्रागभाव इति । अतिरिक्तप्रागभाववादिनोऽपि काचित्प्रागभावस्य भावरूपत्व-
मावश्यकमेव । घटध्वंसस्य यः प्रागभावः स घटरूपो घटप्रागभावरूपश्चेति द्विप्रकार
इति तेनैवोक्तत्वात् । एवमेव प्रध्वंसाभावेऽपि । घटप्रागभावस्य यो ध्वंसः स घटरूपो
घटध्वंसरूपश्चेति । धर्म्यन्तरस्वरूपौ । अधिकरणस्वरूपौ ।

प्रकृतीति । एकस्यापि कालस्यावस्थाभेदेन क्षणादिभेद इत्यवस्थाश्रयत्वरूपद्रव्य-
लक्षणस्य नाव्याप्तिः । अवस्थाश्चात्रोपाधिसंबन्धमात्ररूपा इत्यन्यत् । ज्ञानस्यापि
संकोचविकासरूपावस्थाश्रयत्वमस्त्येव । जीवस्यापि शरीरद्वारा बाल्याद्यवस्था-
श्रयत्वं प्रसिद्धमेव । परमात्मनोऽपि सूक्ष्मोऽव्यक्तादिदेहः स्थूलरूपेण परिणम-
तीति तद्द्वाराऽवस्थाश्रयत्वमस्त्येवेति न दोषः । जडाजडोति । जडत्वं च
परत एव भासमानत्वम् । प्रकृतिरिति । बद्धचेतनानां ज्ञानानन्दयोस्तिरोधाय-
कत्वं विपरीतज्ञानजनकत्वं चास्या एव । इयमेवेश्वरस्य क्रीडासाधनभूता देशभेदेन
कालभेदेन च सदशासदृशविकारोत्पादिका च । तत्र सत्त्वं ज्ञानं सुखं तदुभयसङ्गं
च जनयति । रजो रागतृष्णासङ्गान्कर्मसङ्गं च जनयति । तमो

सा नित्याऽक्षराविद्यामायाशब्दवाच्या च । तस्यां भगवत्संकल्पार्थीनगुण-
वैषम्यात्कार्योन्मुखावस्थाऽव्यक्तशब्देनोच्यते । तस्मान्महानुत्पद्यते । स
महान्सात्त्विकराजसतामसभेदात्रिधाऽवस्थितः । महतोऽहंकार उत्पद्यते ।
सोऽपि सात्त्विकाहंकारो राजसाहंकारस्तामसाहंकारश्चेति त्रिविधं मतः ।
एतेषां त्रयाणां वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति नामान्तराण्यपि संभवन्ति ।
तेषु वैकारिक इति प्रसिद्धाद्राजसाहंकारसहकृतात्सात्त्विकाहंकारोदेकादशे-
न्द्रियाणि जायन्ते ✓

सात्त्विकाहंकारोपादानकं द्रव्यमिन्द्रियमितीन्द्रियलक्षणम् । इन्द्रियं द्विविध-
म्—ज्ञानेन्द्रियं कर्मेन्द्रियं चेति । ज्ञानप्रसरणशक्तमिन्द्रियं ज्ञानेन्द्रियम् । तत्षोढा-
मनःश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनात्वग्भेदात् । स्मृत्यादिकरणमिन्द्रियं मनः । तच्च हृद-
यदेशवृत्ति बुद्ध्यहंकारचित्तादिशब्दवाच्यं बन्धमोक्षहेतुभूतं च । शब्दादिपञ्चके
शब्दमात्रग्रहणशक्तमिन्द्रियं श्रोत्रम् । तन्मनुष्यादीनां कर्णशकुलवच्छिन्नप्रदे-
शवृत्ति । द्विजिह्वानां नयनवृत्ति । एवं रूपमात्रग्रहणशक्तमिन्द्रियं चक्षुः । तत्स-

विपरीतज्ञानमनवधानमालस्यं निद्रां च जनयतीति तत्त्वत्रय उक्तम् । अक्षरेति ।
नित्यत्वं ज्ञानविरोधित्वं विचित्रसृष्टिकरत्वं च यथाक्रममक्षरादिशब्दवाच्यत्वे हेतुः ।
तस्मान्महानिति । अव्यक्तावस्थाऽव्यवहितोत्तरावस्थाविशिष्टमहंकारावस्थाऽव्यवहित-
पूर्वावस्थाविशिष्टं द्रव्यं महान् । एवमुत्तरत्रापि । त्रिधेति । गुणत्रयाश्रयादव्यक्तात्स-
त्त्वादिगुणोन्मेषभेदेन त्रिधा महानुत्पद्यत इति भावः । अहंकार इति । अयमेव
देहात्माभिमानादिजनकः । राजसाहंकारसहकृतादिति । अस्य सहकारित्वं नामे-
न्द्रियहेतोः सत्त्वांशस्य चलनस्वभावेन रजसा प्रेरकेण प्रवर्तनम् ।

इन्द्रियलक्षणमिति । शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरणमतीन्द्रियमिन्द्रियमिति परोक्तलक्षणं
कर्मेन्द्रियेष्वव्याप्तम् । मनःश्रोत्रेति । मनसः कर्मेन्द्रियत्वं तु न । तस्य ज्ञान-
द्वारैव कर्महेतुत्वात् । तावतैव कर्मेन्द्रियत्वे चक्षुरादावप्यतिप्रसङ्गः । मानसं कर्मेति
व्यवहारे तु कर्मशब्दः शुभाशुभसंकल्पारूपज्ञानवाचीति बोध्यम् । हृदय-
देशवृत्तीति । इन्द्रियान्तराणामपि हृत्प्रदेश एव कन्दस्थानम् । स्थानान्तरेष्वपि
तेषां यथासंभवं वृत्तिः । तदुक्तं माष्ये—हृदयस्थानां चेन्द्रियाणां तत्तन्नाडीभेदे-
स्तत्तत्प्रदेशविशेषप्रसर्पात्तत्र तत्र कार्यकर्तृत्वमिति । आत्मनोऽपि हृत्प्रदेशे भूयसा वृत्तिः ।
बुद्ध्यहंकारेति । तथा च माष्यम्—अध्यवसायाभिमानचिन्तारूपवृत्तिर्भेदान्मन

वेषां नयनवृत्ति । गन्धमात्रग्रहणशक्तमिन्द्रियं घ्राणम् । नासाग्रवृत्ति । रसमात्रग्रहणशक्तमिन्द्रियं रसनेन्द्रियम् । जिह्वाग्रवृत्ति । स्पर्शमात्रग्रहणशक्तमिन्द्रियं त्वगिन्द्रियम् । सर्वशरीरवृत्ति । नखदन्तकेशादिषु प्राणमान्द्यतारतम्यात्स्पर्शानुपलम्भः । श्रोत्रादीन्द्रियाणां भौतिकत्वप्रतिपादनं भूताप्यायितृत्वेनौपचारिकम् । एतेषां विषयसंबन्धः क्वचित्संयोगः क्वचित्संयुक्ताश्रयणमिति वृद्धसंप्रदायः ।

उच्चारणादिष्वन्यतमक्रियाशक्तत्वं कर्मेन्द्रियसामान्यलक्षणम् । तच्च वाक्पाणिपादपायूपस्थभेदात्पञ्चधाऽवस्थितम् । वर्णोच्चारणकरणमिन्द्रियं वाक् । तच्च हृत्कण्ठाजिह्वामूलतालुदन्तोष्ठनासामूर्धरूपस्थानेऽष्टकवृत्ति । मृगादिष्वदृष्टविर-

एव बुद्ध्यहंकारचित्तशब्दैर्व्यपादिश्यत इति । भौतिकत्वोति । यत्तु वैशेषिका अनुमानेन भौतिकत्वं साधयन्ति । तथा हि— त्वगिन्द्रियं वायवीयम् । रूपादिषु मध्ये स्पर्शमात्रमिव्यञ्जकत्वात् । स्वेदशैत्यामिव्यञ्जकपवनवत् । चक्षुरिन्द्रियं तैजसम् । रूपादिषु मध्ये रूपमात्रमिव्यञ्जकत्वात् । दीपप्रमावत् । रसनेन्द्रियमाप्यम् । रूपादिषु मध्ये रसमात्रमिव्यञ्जकत्वात् । दस्तान्तर्गततोयवत् । घ्राणेन्द्रियं पार्थिवम् । रूपादिषु मध्ये गन्धमात्रमिव्यञ्जकत्वात् । कृङ्कुमगन्धमिव्यञ्जकवृत्तवदिति । तच्चिन्त्यम् । व्यञ्जकत्वं किं व्यक्तं प्रति करणत्वं हेतुत्वमात्रं वा । नाऽऽद्यः । स्वरूपासिद्धेः । यस्मिन्सत्यविलम्बेन कार्योत्पत्तिस्तस्य करणत्वेनेन्द्रियसंयोगस्य करणत्वेऽपीन्द्रियाणामकरणत्वात् । नान्त्यः । इन्द्रियाधिष्ठानतत्संस्कारादिभिर्व्यभिचरितत्वात् । भूताप्यायितृत्वेनेति । पोषकत्वेनेत्यर्थः । शरीरविनाशे च तत्स्थानीन्द्रियाणीन्द्रियाप्यायकैर्भूतैरंशतो हीयन्ते शरीरान्तरे पूनरापूर्यन्त इति भावः । अत एव—

आप्यायन्ते च ते नित्यं तदवस्थैस्तु पञ्चमिः ।

इति मोक्षधर्म उक्तम् । एतेषामिति । तदुक्तं तत्त्वरत्नाकरे—

तत्र वृद्धा विदामासुः संयोगं संनिकर्षणम् ।

संयुक्ताश्रयणं चेति यथासंभवमूह्यताम् ॥ इति ।

तत्र वाय्वादिचतुष्टयं यथायोग्यं संयोगसंबन्धेन गृह्यते । स्पर्शादयस्तु संयुक्ताश्रयणसंबन्धेनेति विवेकः ।

हात्तदभावः । शिल्पादिकरणमिन्द्रियं पाणिः । स च मनुष्यादीनामङ्गुल्या-
दिवृत्तिः । वारणादीनां नासादिवृत्तिः । संचरणकरणमिन्द्रियं पादः । स
च मनुष्यादीनां चरणवृत्तिः । भुजगपतंगादीनामुरःपक्षादिवृत्तिः । मला-
दित्यागकरणमिन्द्रियं पायुः । स च तत्तदवयववृत्तिः । आनन्दविशेषकरण-
मिन्द्रियमुपस्थः । स च मेहनादिवृत्तिः । एतानीन्द्रियाण्यणूनि । परकायप्र-
वेशे लोकान्तरगमनादिषु च जीवेन सह गमनमिन्द्रियाणाम् । मुक्तिदशायाम-
प्राकृतदेशगमनासंभवादिहैव यावत्प्रलयं स्थितिः । करणविधुरैरन्यैः परि-
ग्रहो वा । कर्मेन्द्रियाणां शरीरनाशान्नाश इति पक्षस्तु भाष्यविरोधेन नेयः ।

अङ्गुल्यादिवृत्तिरिति । ननु तालुपादादिभिरपि मौक्तिकप्रथमलिपिकरणादिशि-
ल्पदर्शनात्तत्राप्येतदिन्द्रियवृत्तिरङ्गीकार्येति चेत्सत्यम् । तत्रांशतो वृत्तिरस्त्येव । न
हीन्द्रियाणां मिथो विरोधः । इन्द्रियान्तरव्याप्ते देश इन्द्रियान्तरावस्थानस्य चक्षुः-
स्पर्शनादौ दर्शनात् । तत्तदवयववेति । मान्थालादीनां तु मुखादिवृत्तिः । तेषामास्ये-
नैव विण्मूत्रविसर्गात् । अणूनीति । अणुत्वं चैषामुपलब्ध्ययोग्यपरिच्छिन्नपरिमाणत्व-
मात्रम् । सह गमनमिति । अणुःशब्देनोपपद्यत इति शेषः । ' त एते सर्वे एव
समाः सर्वेऽनन्ताः ' (बृ० १।१।१३) इत्यानन्त्यश्रुतिस्तु ' अयं यो ह वैतानन-
न्तानुपास्ते ' (बृ० १।१।१३) इत्युपासनाविवानादुपासनफलबाहुल्यविषया । इन्द्रि-
याणामिति । ननु कर्मेन्द्रियाणां शरीरेण सहेत्पत्तिविनाशो । न तु शरीरान्तर-
गमनमिति चेन्न । ' प्राणमनुत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनुत्क्रामन्ति ' (बृ० ४।४।२)
इति श्रुतेः । सर्वशब्देन कर्मेन्द्रियाणामपि संग्रहात् । विना प्रमाणं संकोचे मानाभा-
वात् । ' यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति ' (बृ० ३।२।१३) इति श्रुतौ
शरीरनाशेऽपि कर्मेन्द्रियस्यापि वाचश्चक्षुरादीन्द्रियवदविनाशदर्शनाच्च । अत एव
भाष्ये सप्तगत्यधिकरणे (ब्र० सू० २।४।४) हस्तादीनां जीवेन सह गमनामावाद-
मिन्द्रियत्वमाशङ्क्य तेषामिन्द्रियत्वं सिद्धान्तितम् । हस्तादीनि कर्मेन्द्रियाण्यपि
जीवेन साकं गच्छन्त्येव न तु विनश्यन्तीति तदाशयः । इहैवेति । मुक्तपरित्यक्ता-
नीन्द्रियाणि केनचित्करणरहितेन जीवेन न गृहीतानि चेत्तेषामिहैव जीवसंबन्धं वि-
नाऽपि प्रलयपर्यन्तं स्थितिः । गृहीतानि चेत्तेन सक्तमेव । भाष्यविरोधेनेति ।
इदमनुपदमेवोक्तम् । ' भाष्यविरोधेन ज्ञेयः ' इति पाठे यद्यपि कर्मेन्द्रियाणि जी-
वेन साकं न गच्छन्ति तथाऽपि चक्षुरादीनामिव तेषामपि जीवोपकरणत्वाविशेषा-
दिन्द्रियत्वमस्त्येवेति न तद्भाष्यविरोध इत्यर्थः । अत एव वेदान्तदीपे कर्मेन्द्रि-
याणि जीवेन साकं न गच्छन्तीत्युक्तम् । पुरुषेन्द्रियमिति । जीवभेदेनेन्द्रिय-

एतेन पुरुषेन्द्रियम्, स्त्रीन्द्रियम्, एकेन्द्रियवादः, त्वगिन्द्रियैकत्वस्वीकार इत्यादिविमतपक्षा निरस्ताः ।

राजसाहंकारसहकृताद्भूतादिसंज्ञकतामसाहंकाराच्छब्दादिपञ्च तन्मात्राण्या-
काशादिपञ्च महाभूतानि चोत्पद्यन्ते । भूतानामव्यवहितसूक्ष्मावस्थाविशिष्टं
द्रव्यं तन्मात्रम् । तदेव भूतोपादानम् । विशिष्टशब्दादिविषयाधिकरणं भूतम् ।
तन्मात्राणि शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रमिति
पञ्च । भूतानि च तथा — आकाशवायुतेजोपृथिवीभेदात् । तत्र तामसाहंकारा-
काशयोर्भेद्यमावस्थाविशिष्टं द्रव्यं शब्दतन्मात्रम् । क्षीरधनोरन्तरालपरिणा-
मवत् । तस्मादाकाशो जायते । अस्पर्शवत्त्वे सति विशिष्टशब्दाधारत्वं श्रो-
त्राण्यायितृत्वं चाऽऽकाशलक्षणम् । स च प्रत्यक्षः शब्दमात्रगुणकोऽवकाशहेतुः ।
नीलं नभ इति प्रतीतेः पञ्चीकरणप्रक्रियया रूपवांश्च । एतेनाऽऽकाशस्याजन्य-
त्वनिरासः । सूर्धपरिस्पन्दादिभिराकाशस्यैव प्राच्यादिव्यवहारोपपत्तौ दिगिति

भेदस्यात्राविवक्षितत्वात् । तथात्वे चेन्द्रियानन्त्यस्यैव वक्तव्यत्वात् । एकेन्द्रियेति ।
ननु यथैकस्यैव मनसो वृत्तिभेदास्तथैकस्यैवेन्द्रियस्य पञ्च वृतयः । तच्चेन्द्रियमन्यद्वा
कल्प्यं त्वगिन्द्रियमेव वाऽऽस्त्विति चेन्न । तथा सति रूपादिप्रकाशनशक्तिनियमो न
स्यात् । सर्वत्र शब्दाद्युपलब्धिप्रसङ्गात् ।

भूतानामिति । दधिरूपेण परिणममानस्य पयसो मध्यमावस्थावद्भूतरूपेण परिण-
ममानस्य द्रव्यस्य ततः पूर्वा या काचिदवस्था ताद्विशिष्टं द्रव्यं तन्मात्रशब्देनोच्यत
इत्यर्थः । अस्पर्शवत्त्वे सतीति । इदं पृथिव्यादावतिव्याप्तिवारणाय । कलेऽतिव्याप्ति-
वारणाय विशिष्टशब्दाधारत्वमिति । प्रत्यक्ष इति । यदोन्मीलनं चक्षुपस्तद्देवाऽऽ-
काशोऽयमिति प्रतीतेः । न च नीलरूपस्य कथं चक्षुप्रत्यक्षयोग्यतेति वाच्यम् । तत्र
नीलरूपस्य सत्त्वात् । किंच त्वन्मते रूपवतोऽपि तदयोग्यत्वप्रसङ्गः । तत्रानुभवानु-
सारेण योग्यता कल्पयत इति चेत्तल्लयमाकाशेऽपि । नीलरूपस्यापि रूपस्य प्रत्यक्षत्वद-
र्शनाच्च । न च 'रूपरूपिरूपैकार्यसमवेत' एतदन्यतमत्वं प्रत्यक्षप्रयोजकमिति वाच्यम् ।
समवायानङ्गीकारेण रूपैकार्यसमवेतत्वस्थानिरूपणात् । रूपैकार्यसंबद्धत्वं तत्त्वमिति
चेदाकाशेऽपि पञ्चीकरणप्रक्रियया तदस्त्येवेति बोध्यम् । अजन्यत्वनिरास इति ।
नीलरूपद्रव्यत्वहेतुना नित्यत्वसाधने स्वरूपासिद्धिः । आकाशे नीलरूपसत्त्वात् । निर-

न पृथग्द्रव्यकल्पनम् । दिक्सृष्टिस्त्वन्तरिक्षादिसृष्टिवदुपपद्यते ।

आकाशात्स्पर्शतन्मात्रम् । आकाशवायवोर्मध्यमावस्थाविशिष्टं द्रव्यं स्पर्श-
तन्मात्रम् । तस्माद्वायुः । विशिष्टस्पर्शवत्त्वे सति रूपशून्यत्वम्, अस्मदादि-
स्पर्शनैकेन्द्रियग्राह्यद्रव्यत्वम्, अनुष्णाशीतविशिष्टस्पर्शवत्त्वे सति गन्धशून्यत्व-
मित्यादिकं वायोर्लक्षणम् । तस्मिन्नानासल्लिलातपकुसुमाद्यवयवयोगाच्छी-
तोष्णसौरभादिप्रतीतिः । स च त्वगिन्द्रियाप्यायकत्वेनोपकरोति । तस्य
शब्दस्पर्शौ गुणौ । तत्र शरीरधारणादिहेतुर्वायुविशेषः प्राणसंज्ञकः पञ्चप्रकारः ।
प्राणापानव्यानोदानसमानभेदात् । हृदि प्राणः, गुदेऽपानः, सर्वशरीरगो
व्यानः, कण्ठ उदानः, नाभिदेशे समान इति नियमः । जंगमेष्विव स्थाव-
रेषु प्राणसंबन्धस्तुल्य एव । स च स्पर्शनप्रत्यक्षः । एतेनानुमेयवादनिरासः।

वयवत्वहेतुरपि स्वरूपासिद्ध एव । पञ्चीकरणप्रक्रियया सावयवत्वात् । न पृथगिति ।
ननु संयुक्तसंयोगभूयस्त्वालपत्वनिबन्धने परत्वापरत्वे व्यापकद्रव्ययोगमन्तरेण कथं
स्यातामिति चेन्न । आकाशसंबन्धेनैव तत्सिद्धेः । कल्प्यमानमपि दिक्त्वमुपाधि-
योगेनैव परत्वापरत्वे जनयतीति तादृशोपाधियोगेनाऽऽकाशस्यैव परत्वादिसिद्धौ
पर्याप्तत्वात् ।

विशिष्टस्पर्शेति । इदं रूपादावतिव्याप्तिवारणाय । पृथिव्यामतिव्याप्तिवारणाय
विशेष्यदलम् । वायुविशेष इति । न तु वायुमात्रम् । ' एतस्माज्जायते प्राणो मनः
सर्वेन्द्रियाणि च । त्वं वायुज्योतिरापः ' (मुं० २ । १ । ३) इति सृष्टिवाक्ये वायु-
प्राणयोः सहपाठात् । नापि वायुक्रिया । प्राणः स्पन्दत इति प्रयोगात् । अत्र प्राण-
क्रिययोर्भेदेन व्यपदेशात् । स्थावरेषु । लतावृक्षादिषु । मूलनिषिक्तसलिलदोहदपार्थि-
वधातूनामभ्यादानादिति भावः । नखरोमदन्तकिणादीनामपि मन्दप्राणाश्रयत्वं न्यायतत्त्वे
प्रतिपादितम् । स्पर्शनप्रत्यक्ष इति । स्पर्शनप्रत्यक्षे रूपवत्त्वस्याप्रयोजकत्वात् ।
एतेन पञ्चीकरणप्रक्रियया वायौ रूपसत्त्वेऽपि तस्यानुद्भूतत्वान्न तत्प्रत्यक्षमित्यपास्तम् ।
अत्रेदं बोध्यम्—वायोः स्वभावाददृष्टात्मकेश्वरसंकल्पाद्वा स्वारसिकं तिर्थकप्रसरणम् ।
पार्थिवादिद्रव्येण वायवन्तरेण वाऽभिघातवशाद्भ्रमणोर्ध्वगमनादयः । ते च दूरस्थेन
तृणरज्जुप्रभृतीनां भ्रमणोर्ध्वगमनादिभिरनुमेयाः । तत्रत्येन तु स्पर्शनग्राह्याः । एतेन
वायोर्नातात्वमपि सिद्धम् । अस्य च सर्वतः पार्थिवाप्योपरोधे सति स्तम्भो भवतीति
न्यायसिद्धाञ्जने स्पष्टम् ।

१ घ. 'प्राणादिसं' । २ घ. 'ति जं' । ३ क. ख. ग. 'मेषु स्था' । ४ क. ख. ग. 'पु च प्रा' ।

वायुतेजसोर्भेद्यमावस्थाविशिष्टं द्रव्यं रूपतन्मात्रम् । तस्मात्तेजः । उष्ण-
स्पर्शवत्त्वभास्वररूपवत्त्वादिकं तेजसो लक्षणम् । तस्य वहिः पञ्चनादिहेतुत्व-
मग्निसूर्यात्मना । अन्तर्वैश्वानासंज्ञकजाठराग्निरूपेण । दिवाभीतादिव्यतिरि-
क्तानां चाक्षुषज्ञान आलोकादिरूपेण सहकारी भवति । तच्चतुर्धा—भौमदि-
व्यौदर्याकरजभेदात् । तत्र पार्थिवमात्रेन्धनं तेजो भौमम् । तद्दीपादि । जल-
मात्रेन्धनं दिव्यम् । तत्सूर्यादि । पार्थिवजलेन्धनमौदर्यम् । तज्जाठरम् ।
निरिन्धनं तेज आकरजम् । तत्सुवर्णादि । सुवर्णस्य द्रव्यान्तरसंसर्गादुष्ण-
स्पर्शाभावः । पुनः सामान्येन प्रभापभावाञ्चेति विभक्तः । आवरणसदसद्भा-
वार्थनसंकोचविकासः प्रसारिततेजोविशेषः प्रभा । सा च प्रभावद्भिः सहो-
त्पद्यते । सह नश्यति । द्रव्यरूपा गुणभूता सावयवा ष । अनेन प्रभायाः
केवलगुणत्वमतनिरासः । प्रभाविशिष्टं तेजः प्रभावत् । तच्चतुर्विधमिति प्रति-
पादितम् । तत्तेजः शब्दस्पर्शरूपगुणवत्त्वम् ।

तेजःसलिलयोर्भेद्यमावस्थाविशिष्टं द्रव्यं रसतन्मात्रम् । तस्मादापः । शीत-
स्पर्शवत्त्वं निर्गन्धत्वे सति विशिष्टरसवत्त्वमित्याद्यपां लक्षणम् । तासां शुक्ल-
मधुरशीतैकस्वभावानामाश्रयादिसंसर्गभेदाद्रूपरसस्पर्शवैचित्र्यारोपः । ताः
समुद्रसरिदादिरूपेण बहुप्रकाराः । शब्दस्पर्शरूपरसवत्यश्च सेवनपिण्डीकर-
णादिहेतवः ।

अपृथिव्योर्भेद्यमावस्थाविशिष्टं द्रव्यं गन्धतन्मात्रम् । तस्मात्पृथिवी ।
विशिष्टगन्धवत्त्वं रसवत्त्वे सति विशिष्टस्पर्शवत्त्वमित्यादि श्थिवीलक्षणम् ।
सा सुरभिर्भुरा कृष्णादिरूपा चातुष्णाशीतस्पर्शवती । पाकजभेदाद्विचित्र-

वैश्वानरसंज्ञकैति । वैश्वानरो नाम शरीरान्तर्वर्ती प्राणादिसंयोगादाशितपीतपाका-
दिहेतुस्तेजोविशेषः । द्रव्यान्तरसंसर्गादिति । पञ्चीकृतभूतारव्यथिप्रपञ्चे सुवर्णा-
दिषु पार्थिवाशस्य प्रभूतत्वात् । तेजसत्वोक्तित्वतरासाधारणं स्वतःशुद्धत्वं स्फुर-
त्त्वादि चान्निक्षि कृतेति बोध्यम् । द्रव्यरूपैति । प्रभाया न रूपादिवत्केवलगुण-
त्वम् । स्वाश्रयभूतादीपादन्यत्र तत्समीपे देशे प्रभाया विद्यमानत्वात् । रूपवत्त्वादिपि
तस्या द्रव्यत्वं सिध्यति । गुणभूतेति । नियमेन द्रव्याश्रयत्वाद्द्रव्यशेषत्वाच्चेति भावः ।
एतेषु च तत्त्वेषु भागत एवोत्तरांतरसृष्टिः । अन्यथा पृथिव्येकशेषप्रसङ्गात् । पूर्वपूर्व-
भूतानामुपलम्भादिसिद्धत्वाच्च ।

सुरभिरिति । स्वभावत इत्यादिः । विचित्ररसा चेति । कश्चिद्द्रवत्वोपलम्भोऽपि

वर्णा विचित्ररसा च । अस्याश्च मनोघ्राणाप्यायकत्वेनोपकारकत्वम् । मृत्पा-
षाणान्नौषधादिवहुप्रकारवती शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणका धारणहेतुश्च ।
तमसः पृथिव्यामन्तर्भावः । तद्गुणत्वात्तदवस्थान्तरत्वाद्वा । अत एवाऽऽलो-
काभावमात्रं द्रव्यान्तरं वेत्यादिपक्षा निरस्ताः ।

भूतेषु सर्वत्र पञ्चीकरणप्रक्रियया शब्दादीनां गुणानामुपलम्भः । पञ्चीक-
रणप्रक्रिया तु भगवान् भूतानि सृष्ट्वा, एकैकमेव भूतं द्विधाकृत्य द्वयोर्भागयोः
स्वभागमेकं भिन्नाय भागान्तरं चतुर्धाकृत्य तांश्चतुर्भागान्भूतान्तरेषु चतुर्धु

सलिलातपादियोमादेव । तद्गुणत्वादिति । तस्याः पृथिव्या गुणो नीलवर्णताद्विशि-
ष्टत्वात् । तदवस्थेति । तमसः प्रकृतिविशेषावस्थत्वेन वायुपर्यन्तेषु प्राकृतपदार्थेषु
रूपामावेन तोयतेजसोर्नीलरूपामावेन च पारिशेष्यात्पार्थिवत्वं सिद्धम् । प्रयोगश्च-
तमो द्रव्यं पार्थिवं च । अबाधितनीलादिप्रत्ययविषयत्वात् । घटादिवत् । न च रूपि-
प्रत्यक्ष आलोकसहकृतचक्षुषः कारणत्वदर्शनात्तमःप्रत्यक्षे तदभावान्न तमसो रूपि-
द्रव्यत्वमिति वाच्यम् । न हि यत्कचिद्यदपेक्षं तत्सर्वत्र तदपेक्षामिति नियमः । स्वेदा-
दिशैत्यग्रहे वायुसापेक्षस्य स्पर्शनस्यौष्ण्यग्रहे तदभावसापेक्षत्वात् । आलोकाभाव-
मात्रमिति । काश्यपीयानामयं पक्षः परंतु स न संभवति । तथा सत्यन्धस्योलू-
कादीनां चाऽऽलोकसत्त्व एवान्धकारप्रतीतिर्जायते सा न स्यात् । अभावस्य प्राङ्नि-
रस्तत्वाच्च । अभावस्वरूपत्वे गाढत्वविरलत्वाद्यनुपपत्तेश्च । 'तमः ससर्ज भगवान्'
इतिश्रुतिविरोधश्च । एतेन रूपदर्शनाभावमात्रं तम इत्यपि निरस्तम् । द्रव्यान्तरमिति ।
कौमारिलैरङ्गीकृतोऽयं पक्षः । स च गौरवादेव निरस्तः । इत्वादीति । आदिना
नीलगुणमात्रं तम इति पक्षसंग्रहः । अयं च पक्षो नीलमिति धर्मितया स्फुरणात्रिरा-
धारनैल्योपलम्भायोगाच्च निरस्तः । न च तमसः पार्थिवत्वे तस्य तेजोगत्यागत्यनु-
विधानं कथामिति वाच्यम् । यथादृष्टि स्वभावव्यवस्थापनात् । यथाऽयस्कान्तास्थिति-
गत्यनुविधानं पृथग्द्रव्यस्माप्ययसो दृश्यते तद्वत् । न च तमसः पार्थिवत्वे तद्व्यवाहि-
तस्य प्रकाशस्थस्य घटादेः कथं प्रत्यक्षमिति वाच्यम् । जलादेरिव तमसः स्वभावादेव
दृग्गतेरविरुद्धत्वात् ।

पञ्चीकरणेति । तत्र भूतेष्वालोकाशोऽवकाशहेतुः । वायुर्वहनादिहेतुः । तेजः पच-
नादिहेतुः । जलं सेचनपिण्डीकरणादिहेतुः । पृथिवी धारणादिहेतुरिति तत्त्वत्रय
उक्तम् । चतुर्धाकृत्येति । तदुक्तं तत्त्वमुक्ताकश्लेषे —

द्वेषा भूतानि भित्त्वा पुनरपि च भिनत्त्यर्धमेकं चतुर्धा ।

तैरेकैकस्य भागैः परमनुकलयत्यर्धमर्धं चतुर्भिः ॥ इति ।

योजयति । एवं सर्वेषु भूतेषु क्रियमाणेष्वेकैकस्य भूतस्यार्थं स्वभागतोऽर्था-
न्तरं चतुर्णां भूतानां भागसमुच्चय इति भवति । तथा च स्वभागस्य भूय-
स्त्वात्परभागस्याऽऽल्पीयस्त्वाच्च पृथिव्यादिव्यपदेशः । वेदे त्रिवृत्करणो-
पदेशस्तु पञ्चीकरणस्याप्युपलक्षणम् । भूतैः साकं महदहंकारौ मिलित्वा
सप्तीकरणमित्यप्याहुः । इतेषु चतुर्विंशतिसंख्याकेषु पञ्च भूतानि प्रकृतिम-
हदहंकाराश्च शरीरोपादानानि । एकादशेन्द्रियाणि प्रत्येकमसंख्यातानि प्रति-
पुरुषं भिन्नानि । आभरणार्पितरत्नानीव शरीरमाक्रम्य तिष्ठन्ति ।

शरीरं नाम चेतनं प्रत्याधेयत्वविधेयत्वशेषत्वनियमैरपृथक्सिद्धो द्रव्यविशेष
इत्येकं लक्षणम् । नियमेन यदाधेयं नियमेन यद्विधेयं नियमेन यच्छेषमिति

एतेन पञ्चधा विभक्तानां भागानां पञ्चस्वर्धान्तरेषु योजनमित्यपास्तम् । वेदे ।
'तासां त्रिवृत् त्रिवृत्मेकैकां करवाणि' (छा. ६ । ३ । ३) इत्यादौ । चतुर्विंशतिसं-
ख्याकेषु । प्रकृतिमहदहंकारैकादशेन्द्रियपञ्चतन्मात्रपञ्चमहाभूतारूपेषु ।

शरीरमिति । आधेयत्वमाश्रितत्वम् । विधेयत्वं नियाम्यत्वम् । शेषत्वमङ्गत्वम् ।
अपृथक्सिद्ध इति । यावत्सत्तमसंबन्धानर्हत्वमपृथक्सिद्धत्वम् । नियमेनाऽऽधेयत्वं
नियमेन विधेयत्वं नियमेन शेषत्वमित्येतेऽपृथक्सिद्धेरवान्तरभेदाः । एकं लक्षणमिति ।

अस्मिन्पक्ष आधेयत्वविधेयत्वशेषत्वेऽप्यन्यतमेनैव सिद्ध इतरद्वयोच्चारणं व्यर्थमिति
व्यवच्छेद्यपरिक्लेशः । इत एव वाऽरुचेराह—नियमेनेति । अत्रायं निष्कर्षः—यस्य
चेतनस्य यदवस्थं द्रव्यं यावत्सत्तमसंबन्धानर्हं स्वशक्ये नियन्तव्यस्वभावं तदवस्थं
तस्य शरीरमिति प्रथमलक्षणम् । चेतनस्येत्यस्य चैतन्यविशिष्टस्येत्यर्थः । तेन चैत-
न्यस्य तत्तदाश्रयं प्रति शरीरत्वव्यवच्छेदः । यदवस्थामित्यव्याप्तिपरिहारः । तस्यैव
द्रव्यस्यावस्थान्तरे वियोगात् । द्रव्यमिति क्रियादिव्यवच्छेदः । यावत्सत्तमित्यादिना
जीवं प्रति परकायप्राणेन्द्रियकुठारादिव्यवच्छेदः । प्राणादीनां हि पृथगेव सृष्टानां
शरीरनिर्माणात्पूर्वभावात् । तथा मोक्षात्पश्चादपि तेषामप्रलयावस्थानात् । स्वशक्य
इत्यसंभवपरिहारः । न हि विहङ्गमसाध्यं विहायोगमनं मानुषमृगसरीसृपादिशरीरस्य
शक्यम् । न च तावता तेषामशरीरत्वम् । नियन्तव्येत्यनियन्तव्यव्याध्यादिव्यवच्छेदः ।
व्याध्यादीनां ज्वराद्यात्मिकानां तदीयत्वात्, स्वशक्ये प्रवर्तमानत्वाच्च । एवं पुत्रश-
रादीनामपि स्वभावशब्देनाव्याप्तिपरिहारः । व्याध्यादिदृशायां स्वशक्येऽप्यशक्यानिय-
मनानां मानुषशरीरादीनामपि शरीरत्वात्तदानीमेतस्याशक्यनियमनत्वस्यैवाधिकत्वात् ।
यस्य चेतनस्य यदवस्थं द्रव्यं यावत्सत्तं धार्यं तदवस्थं तस्य शरीरमिति द्वितीयं
लक्षणम् । पुत्रशरीरादिकं न यावत्सत्तं धार्यमिति व्यवच्छिद्यते । शेषं प्राग्वत् । यस्य
चेतनस्य यदवस्थं द्रव्यं यावत्सत्तमशेषतानर्हं तदवस्थं तस्य शरीरमिति तृतीयं लक्ष-

लक्षणत्रयं वा योज्यम् । ईश्वरतज्ज्ञानव्यतिरिक्तं द्रव्यं शरीरामेति वा तटस्थलक्षणम् । एतेन चेष्टाश्रयं शरीरम्, इन्द्रियाश्रयं शरीरम्, भोगाय-
तनं शरीरम्, शिरःपाणिपादादिमयं शरीरम्, इत्यादीनि परोक्तानि शरी-
रलक्षणानि निरस्तानि ।

णम् । अशेषतानर्हमिति पूर्ववदेव पुत्रादिव्यवच्छेदः । दानादिना तेषां स्वशेषत्व-
निवर्तनस्य शक्यत्वात् । शरीरस्य तु दासत्वाद्यापादनेन परशेषत्वेऽपि सांसिद्धिकस्य
स्वस्वशेषत्वस्य निवर्तयितुमशक्यत्वादिति न्यायसिद्धाज्जने स्पष्टम् । न च शिलाका-
ष्ठादिष्वव्याप्तिः । तत्रापि स्वरूपतरचैतन्यसत्त्वात् । शिलादिशरीरिणोऽपि जीवा
विद्यन्त इत्यहल्यादिवृत्तान्तश्रवणात्सिध्यति । अत एव वेदार्थसंग्रहे शिलाकाष्ठादि-
शब्दानामपि तदन्तर्यामिजीवितदन्तर्यामिपरमात्मपर्यन्तार्थवाचकत्वमुक्तम् । लक्षण-
त्रयेऽपि शरीरत्वस्य पुत्रत्वादिवत्सप्रतियोगित्वमेव । तटस्थलक्षणमाह—ईश्वरेति ।
ईश्वरतज्ज्ञानव्यतिरिक्तं द्रव्यं 'जीवनित्यविभूतिप्रकृतिकाल' एतच्चतुष्टयम् ।
अस्मिँल्लक्षणे शिलाकाष्ठादिष्वव्याप्तिशङ्काऽपि नेति बोध्यम् । नैयायिकाद्युक्तं खण्ड-
यति—एतेनेति । ईश्वरतज्ज्ञानव्यतिरिक्तसर्वद्रव्येषु शरीरत्वस्येष्टत्वेनेत्यर्थः । किंच
चेष्टाशब्देन क्रियामात्रविक्षायां घटादिष्वतिव्याप्तिः । प्रयत्नवदात्मसंयोगासमवायि-
कारणकाक्रियाविवक्षायां प्रयत्नवदीश्वरसंयोगासमवायिकारणकाक्रियाश्रयेषु भूधरादिष्वति-
व्याप्तिः । तत्र तैः शरीरत्वस्यानभ्युपगमात् । प्रयत्नवज्जीवेति विशेषणे प्राणादि-
ष्वतिव्याप्तिः । बुद्धिपूर्वकप्रयत्नेति विशेषणेऽपि बुद्धिपूर्वकाकुञ्चनप्रसारणादिदशायां
तेष्वेवातिव्याप्तिः । तथेन्द्रियाश्रयत्वामिन्द्रियसमवायित्वमिन्द्रियसंयोगित्वं वा । नाऽऽद्यः ।
शरीरेन्द्रिययोः समवायाभावात् । इन्द्रियावयवानां तन्मते शरीरत्वप्रसङ्गाच्च ।
नान्त्यः । घटादिष्वपि तत्संभवात् । न च यावत्सत्तमिन्द्रियसंयोगो विवक्षित
इति वाच्यम् । अनिमेषचक्षुषि प्रेक्षमाणे पुरुषे तत्कालिकोत्पन्नविनष्टबुद्बुदप्रभृति-
ष्वतिव्याप्तेः । तथा भोगायतनत्वं भोगस्थानत्वमात्रं चेत्तदा गृहादिष्वतिव्याप्तिः ।
न च यदाश्रित्यैवाऽऽत्मा भोगवान्भवति तद्भोगायनमिति विवक्षितमिति वाच्यम् ।
असंभवात् । अशरीरस्यापि मुक्तस्य भोगविशेषाभ्युपगमात् । न च दुःखात्मक-
भोगो विवक्षित इति वाच्यम् । तथाऽपीन्द्रियेष्वतिव्याप्तेः । ईश्वरमुक्तादिभिरिच्छा-
गृहीतशरीरेष्वव्याप्तेश्च । तथा शिरःपाणिपादादिमयं शरीरमित्यपि न लक्षणम् ।
शिलापुत्रकादिष्वपि तत्संभवात् । न च प्राणादिमत्त्वे सतीति निवेशान्न दोष इति
वाच्यम् । मृतशरीरेऽव्याप्तेः । न च यदा कदाचित्प्राणादिसंबन्धमात्रं विवक्षित-
मिति वाच्यम् । तथाऽपि स्थावरादिशरीरेष्वव्याप्तेः । तेषु प्राणादिसत्त्वेऽपि पाणि-
पादादिसंस्थानाभावादिति बोध्यम् ।

शरीरं द्विविधम्— नित्यमनित्यमिति । तत्र नित्यं त्रिगुणद्रव्यकालजीवशु-
भाश्रयादिकमीश्वरशरीरम् । नित्यसूरीणां च स्वाभाविकं गरुडभुजगादिरूपम् ।
अनित्यं द्विविधम् । अकर्मकृतं कर्मकृतं चेति । प्रथममीश्वरस्य महदादिरू-
पम् । तथाऽनन्तगरुडादीनां चेच्छाशुहीवं तत्तद्रूपम् । कर्मकृतमपि द्विविधम्—
स्वसंकल्पसहकृतकर्मकृतं केवलकर्मकृतं चेति । पूर्वं महतां सौभरिप्रभृती-
नामुत्तरं चान्येषाम् । पुनः सामान्यतो द्विविधम् । स्थावरजंगमभेदात् ।
स्थावराः शिलावृक्षगुल्मलतादयः । जंगमाश्चतुर्धा । देवमनुष्यतिर्थङ्गनारकि-
भेदात् । उद्भिज्जस्वेदजजरायुजाण्डभेदा अपि विभागजधर्माः । अयोनिज-
शरीराण्यपि सन्ति ।

एवं पञ्चीकृतानां भूतानामेवाण्डोत्पादकत्वम् । अण्डोत्पादनात्पूर्वसृष्टिः
समष्टिसृष्टिः । अनन्तरसृष्टिर्व्यष्टिसृष्टिः । महदादीनामुत्पत्तिर्नाम तालीयप-
लाशताटङ्कन्यायेनावस्थान्तरापत्तिरेव । सेनावनराश्यादिव्यवहारवत् ।
पूर्वापरावस्थाविशेषसंबन्धमात्रेण कार्यकारणभेदव्यवहारः । तत्र पूर्वा-

शुभाश्रयेति । ' आदित्यवर्णम् ' (श्वे० ३।८) इत्यादिश्रुतिप्रतिपादितमीश्वर-
शरीरं शुभाश्रयसंज्ञकम् । गरुडादीनामिति । आदिपदेन मुक्तसंग्रहः । देवमनु-
ष्येति । असुरयक्षराक्षसादयोऽपि देवयोनयः । भूलोकवर्तिब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रादयो
मनुष्ययोनयः । मृगपक्षिसरीसृपादयस्तिर्यग्योनयः । नारकिणस्तु रौरवादिषु दुःखैका-
श्रयदुस्त्यजविग्रहाः । अयोनिजशरीराण्यपीति । एतानि च देवादिषु त्रिष्वपि संभ-
वन्ति । प्रजापतिमधुकैटभपृष्टद्युम्नैरावतस्वेदजादिदर्शनात् । अत्र व्यष्टिजीवशरीरा-
णामीश्वरं प्रति शरीरत्वं सद्धारकमद्धारकं चेत्येके । सद्धारकं जीवद्धारकम् । तच्चानुभ-
वास्तिद्धम् । अस्मदादिहस्तपादादीनां जीवद्वारेश्वरनियाम्यत्वदर्शनात् । किंतु सुषुप्ति-
मूर्च्छाद्यवस्थासु स्वाभाविकमीश्वरनियाम्यत्वमेव देहदेहिनोर्दृश्यते । इदमद्धारकनियमनं
सद्धारकमात्रत्वे न स्यात् । अतोऽद्धारकत्वमपि तस्य स्वीकार्यम् । न चाद्धारकत्व
एकस्य युगपदनेकं प्रति शरीरत्वमनुपपन्नमिति वाच्यम् । तल्लक्षणयोगेन तदुपपत्तेः ।
अनेकं प्रति शेषत्वादिवत् । सद्धारकमेवेत्यन्ये । सुषुप्त्यादिषु जीवस्य ज्ञानेच्छारहि-
तत्वेऽपि तत्सत्तामात्रेण तद्द्वारैव देहनियमनात् । दिव्यमङ्गलविग्रहाद्याचित्सु तु श-
रीरत्वमद्धारकमेव ।

पञ्चीकृतानामिति । तदुक्तं विष्णुपुराणे—

१ क. 'नित्यसु' । २ ख. घ. 'विक्र ग' । ३ घ. 'ण्डजादिभे' । ४ घ. 'तानामे' । ५ घ.
'लीप' । ६ ख. 'शेषः सं' ।

वस्थाग्रहाणेन विजातीयावस्थान्तरप्राप्तौ तत्त्वान्तरव्यपदेशः पृथिवीपर्यन्त एव । इत्थं प्रकृतिमहदहंकारैकादशेन्द्रियतन्मात्रपञ्चकभूतपञ्चकविभागेन चतुर्विंशतितत्त्वानि वर्णितानि । एतेन न्यूनाधिकसंख्याकतत्त्ववादिनो वाद्याः पाशुपताश्च निरस्ताः । परमाणुकारणत्ववादिनोऽपि निरस्ताः ।

प्रकृत्याद्य ईश्वरस्य जीवस्य च भोग्यभोगोपकरणभोगस्थानानि च भवन्ति । भोग्यं विषयाः । भोगोपकरणं चक्षुरादिकरणानि । भोगस्थानानि चतुर्दशभुवनान्तर्गत्यण्डजातानि । अण्डं नाम कपित्थफलाकारं पञ्चीकृतपञ्चभूतारब्धं प्राकृतद्रव्यम् । तद्यथा—पद्माकारा भूः । कर्णिकाकारो मेरुः । मेरोर्दक्षिणतो भारतर्कपुरुषहरिवर्षाणि त्रीणि । उत्तरतो रम्यकाहिरण्यककुरुवर्षाणि त्रीणि । पुरतो भद्राश्ववर्षम् । पश्चात्केतुमालाख्यं वर्षम् । मध्ये त्विलाष्टम् ।

नानावीर्याः पृथग्भूतास्ततस्ते संहतिं विना ।

नाशक्नुवन्प्रजः स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः ॥ इति ।

ततश्च यथा कश्चिन्मृज्जलादीन्मेलयित्वाैकं द्रव्यं कृत्वा भित्तिं करोति तथेश्वर एतत्सर्वं मेलयित्वा तैरेकमण्डं सृजतीति भावः । न्यूनाधिकेति । शून्यमेव तत्त्वमिति शून्यवादिनो बौद्धाः । अशेषविशेषप्रत्यनीकं चिन्मात्रं ब्रह्मैकमेव तत्त्वमिति मायावादिनः । स्वतन्त्रास्वतन्त्रभेदेन द्विविधं तत्त्वमिति पूर्णप्रज्ञाचार्याः । पृथिव्यादीनि चत्वारि भूतानि तत्त्वानीति चार्वाकाः । प्रकृत्यादीनि चतुर्विंशतिसंख्याकानि तत्त्वानि जीवेन सह पञ्चविंशतिरिति निरैश्वरसांख्याः । ईश्वरेण सह षड्विंशतिरिति सेश्वरसांख्याः । एते सर्वे निरस्ता इत्यर्थः । पाशुपतमतं च सर्वदर्शनसंग्रहादवसेयम् । परमाणुकारणत्वेति । नैयायिकाः परमाणुनामुपादानकारणत्वं वदन्ति । तत्र किं परमाणवः सावयवा निरवयवा वा । आद्ये तेषामप्यवयवानां सावयवत्वमित्यनवस्था अन्त्ये परमाणूनां मियः संयोग एव न संभवति । संयोगो हि किञ्चिदंशावच्छेदेनैव भवति । इतरथा सर्वेषु परमाणुष्वेकपरमाणुप्रदेशमात्रावास्थितेषु स्वाधिकदेशव्यापिकार्यारम्भो न स्यात् । अवयवास्पृष्टे प्रदेशेऽवयवैः स्थितेरदर्शनात् । न चावयवनाशादवयवविनाशे क्षणमनाधारोऽवयवतीति वाच्यम् । तथा कल्पनायामपि पूर्वं तन्तुसंघानवच्छिन्नप्रदेशे पटस्य वृत्तेरकल्पनात् । तथा च वृणुकाद्यारम्भानुपपत्तौ मेरुसर्षपादिविचित्रभेदासिद्धिः । किञ्च दिग्भेदेन परमाणूनां सावयवत्वावश्यभावेन निरवयवत्वं दुर्वचमिति बोध्यम् ।

पद्माकारेति । तदुक्तं विष्णुपुराणे—

एवं नववर्षयुक्तं जम्बूद्वीपं लक्षयोजनविस्तीर्णं समपरिमाणेन लवणसा-
गरेणऽऽवृतम् । स सिंधुद्विगुणेन सप्तवर्षात्मकेन पुष्यद्वीपेन वेष्टितः । सोऽ-
पीक्षुसमुद्रेण । सोऽब्धिः शाल्मलिद्वीपेन । स पुनः सुरासमुद्रेण । स कुशद्वी-
पेन । स सर्पिःसमुद्रेण । सोऽपि क्रौञ्चद्वीपेन । स दध्यर्णवेन । सोऽपि
शाकद्वीपेन वेष्टितः । स क्षीरार्णवेन । स वर्षद्वयविभाजकवलयकारमान-
सोत्तरपर्वतसहितेन पुष्करद्वीपेन । स शुद्धजलार्णवेन । एवं द्वीपानामुत्तरोत्तर-
द्वैगुण्यं द्रष्टव्यम् । पुष्यद्वीपादिपञ्चसप्तवर्षात्मकाः सप्तद्वीपात्मकोऽयं द्विगुणी-
कृतया काञ्चनभूम्या वृतः । काञ्चनभूमिस्तु लोकालोकपर्वतेन । पर्वतस्त्व-
न्वतमसा । तदन्वतमो गर्तोदकेन । तदण्डकटाहेन ।

एवं भूमेरधोऽतलवितलरसातलतलातलमहातलसुतलपातालभेदात्सप्त लो-
का अथो नारकास्ते च पापकर्षणां पापानुभवभूमयः । रौरवाद्या मुख्यतयैक-
विंशतिप्रभेदाः । ततस्तमः । ततो गर्तोदकम् । अनन्तरमण्डकटाहः ।

एवं भूमेरुपरि लक्षयोजनात्सूर्यमण्डलम् । तदेव भुवर्लोकः । तदुपरि
चन्द्रमण्डलम् । तस्मादुपरि नक्षत्रबुधशुक्राङ्गारकबृहस्पतिशनि सप्तर्षिमण्डलानि ।
तदुपरि ध्रुवः । सूर्यमण्डलमारभ्य ध्रुवलोकपर्यन्तं स्वर्लोकः । चतुर्लक्षादुपरि
कोटियोजनोच्छ्रायो महर्लोकः । तस्माद्द्विगुणो जनलोकः । ततश्चतुर्गुणस्तपो-

भूपञ्चस्यास्य शैलोऽसौ कर्णिकाकारसंस्थितः (२।२।९) ।

भारतं प्रथमं वर्षं ततः किंपुरुषं स्मृतम् ।

हरिवर्षं तथैवान्यन्मेरोर्दक्षिणतो द्विज ॥

रम्यकं चोत्तरं वर्षं तथैवानु हिरण्यम् ।

उत्तराः कुरवश्चैव यथा वै भारतं तथा (२।२.१२-१३) ।

द्वीपमण्डलप्रान्तवर्तित्वाद्भारतवर्षवद्धनुराकारं कुरुवर्षमित्यर्थः ।

‘ भद्राश्वं पूर्वतो मेरोः केतुमालं च पश्चिमे ।

वर्षे द्वे तु मुनिश्रेष्ठ तयोर्मध्य इलावृतम् (२।२।२३) ।

नववर्षं तु भैत्रेय जम्बूद्वीपमिदं मया ।

लक्षयोजनविस्तारं संक्षेपात्कायितं तव ॥

जम्बूद्वीपं समावृत्य लक्षयोजनविस्तरः ।

भैत्रेय वलयाकारं स्थितः क्षारोदधिर्बहिः (२।३।२७-२८) ।

इत्यादिविष्णुपुराणे द्वितीयांशे स्पष्टमिति तत एवावधार्यताम् ।

इति श्रीयतीन्द्रमतदीपिकाप्रकाशे चतुर्थोऽवतारः ॥ ४ ॥

लोकः । तस्माद्द्वादशकोट्युच्छ्रायः सत्यलोकः । ततस्तमो गर्तोदकमण्डक-
टाहश्च । एवं तिर्यगूर्ध्वप्रमाणेन पञ्चाशत्कोटियोजनत्वं भूमेरुक्तं भवति ।
शतकोटियोजनविस्तीर्णवादो मानभेदेन । अण्डकटाहस्तु कोटियोजनोच्छ्रायः ।
तदण्डं दशोत्तरावरणावृतम् । एतादृशान्यण्डान्यनन्तानि जलबुद्बुदवत् । युग-
पदीश्वरसृष्टानि । ईश्वरस्य चतुर्मुखपर्यन्ता सृष्टिरद्वारका । तदनन्तरं सद्द्वार-
केति विवेकः । विस्तरस्तु पुराणरत्नादिषु द्रष्टव्यः । इति प्रकृतिर्निरूपिता ।

इति श्रीबाधूलकुलतिलकश्रीमन्महाचार्यस्य प्रथमंदासेन श्रीनिवासदा-
सेन विरचितायां यतीन्द्रमतदीपिकायां प्रकृतिनिरूपणं
नाम चतुर्थोऽवतारः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽवतारः ।

अथाचिद्विशेषः कालो निरूप्यते-कालो नाम गुणत्रयराहितो जडद्रव्यवि-
शेषः । स च नित्यो विभुश्च । भूतभविष्यद्वर्तमानभेदेन त्रिविधः । युगपत्सि-
प्रचिरादिव्यपदेशहेतुः । निमेषकाष्ठौकलामुहूर्तादिवसपक्षमासऋत्वयनसंवत्स-

अथ पञ्चमोऽवतारः ।

नित्य इति । ' सदेव सोम्येदमग्र आसीत् ' (छा. ६ । २ । १) इति श्रुता-
वग्रेषुशब्देन ' नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम् ' (तै. ब्रा. २ । ८ । ९ । ३) इत्यत्र
तदानींशब्देन च कालस्यैवाभिधानात्सृष्टेः प्रागपि कालस्यास्तित्वं सिध्यति । तदुक्तं
पराशरेणापि—

अनादिर्भगवान्कालो नान्तोऽस्य द्विज विद्यते ॥ इति ।

केचित्तु ' विद्या कालो भवत्कृतौ ' इत्यादिकालोत्पत्तिवचनात्कालस्यानित्यत्व-
माहुः । तन्न । प्रागुक्तपराशरवचनानुसारेणैतदुत्पत्तिवचनस्योपाध्युत्पत्त्यभिप्रायकत्वात् ।
किंचोत्पत्तेः पूर्वं नाशतः पश्चाच्च कालो नास्तीति तैरङ्गी क्रियते न वा । अन्त्येऽ-
स्मन्मतं न निषिद्धमिति नास्माभिस्तत्र किंचिदुत्तरं दीयते । आद्ये पूर्वपश्चाच्छब्दयो-
र्निरर्थकत्वं सार्थकत्वं वा । प्रथमे निरर्थकनिग्रहस्थानापत्तिः । द्वितीये कालस्यैव
तदर्थत्वात्तत्र कालनिषेधे स्ववचनविरोधः । तथा चोक्तम्—

यतः कुतश्चित्कालांशात्परतः पूर्वतोऽपि वा ।

कालो न चेत्स्वदुक्तिस्थं पौर्वापर्यं न सिध्यति ॥ इति ।

विभुरिति । सर्वत्र कालविशेषणतया प्रतीतेरिति भावः । निमेषेति । निमेषः

१ घ. 'द्वारिका' । २ घ. 'द्वारिके' । ३ घ. 'विष्णुपुराणम्' । ४ घ. 'मङ्गलपात्रेण श्री' । ५ घ.
'छातस्परदिनाञ्च कला' ।

रादिष्वपदेशहेतुश्च । मनुष्यमानेन मासः पितृणां दिनम् । तेषाममावास्या
 तु मध्याह्नम् । मनुष्यमानेन वत्सरो देवानां दिनम् । तेषामुत्तरायणमहः ।
 दक्षिणायनं रात्रिः । एवं देवमानेन द्वादशवर्षसहस्रसंख्याकं चतुर्थुगमित्युच्यते ।
 तत्र चतुःसहस्रवर्षसंख्याकं कृतयुगम् । तत्र पूर्णो धर्मः । त्रिसहस्रवर्षसंख्याकं
 त्रिपाद्दर्मवत्त्रेतायुगम् । द्विसहस्रवर्षपरिमितं सार्धपादधर्मवद्द्वापरम् । सहस्र-
 वर्षसंख्याकमेकपादधर्मसंयुक्तं कलियुगम् । एतेषां संधिर्द्विसहस्रसंख्याकः ।
 एवं चतुर्थुगसहस्राणि ब्रह्मणो दिवसप्रमाणमुच्यते इत्युक्तरित्या चतुर्थुगसह-
 स्राणि ब्रह्मणो दिवसमात्रप्रमाणकमेव । एवं रात्रिरपि ।

ब्रह्मणोऽह्नि चतुर्दश मनवो जायन्ते । इन्द्रा अपि तथैव । तथा सप्तर्षयश्च ।
 एकैकमनोरेकसप्ततिचतुर्थुगपरिमाणः कालः । एवं ब्रह्ममानेन ब्रह्मणः शत-
 वर्षजीवितम् । एतत्सर्वं कालाधीनम् । एवं नित्यनैमित्तिकप्राकृतमलया
 अपि कालाधीनाः । कालस्य स्वकार्यं प्रति स्वस्योपादानत्वम् । अखण्ड-
 कालो नित्यः । कार्यः पुनरनित्यः । एवंभूतः काल ईश्वरस्य क्रीडापरि-
 करो भवति । लीलाविभूतावीश्वरः कालाधीन एव कार्यं करोति । नित्य-
 विभूतौ तु कालस्य विद्यमानत्वेऽपि तस्य न स्वातन्त्र्यम् । केचित्तु तत्र कालो
 नास्तीति वदन्ति । अन्ये तु तामसमहान्काल इति । उभयेषामागमबाधः

प्रसिद्धः । पञ्चदश निमेषाः काष्ठा । त्रिंशत्काष्ठाः कशा । त्रिंशत्कला मुहूर्तम् ।
 मुहूर्तानि त्रिंशद्विंशसः । त्रिंशद्विंशसाः पञ्चद्वयरूपो मासः । द्वौ मासावृतुः । ऋतव-
 स्त्रयोऽयनम् । अयने द्वे संवत्सरः । एतेषां संधिरिति । कृतयुगस्य पूर्वसंधिश्चत्वारि
 शतानि वर्षाणि । अपरसंधिरपि तथैव । त्रेतायुगस्य पूर्वसंधिस्त्रीणि शतानि । अप-
 रसंधिरपि तथैव । द्वापरस्य पूर्वसंधिर्द्वे शते । अपरसंधिरपि तथैव । कलियुगस्य पूर्व-
 संधिः शतम् । अपरसंधिरपि तथैवेति संकलनतया द्विसहस्रसंख्या संपद्यते ।

कार्यः । निमेषादिरूपः । क्रीडापरिकर इति । निखिलजगदुत्पत्तिस्थितिखली-
 लस्य सर्वेश्वरस्यायं कालो लीलोपकरणमित्यर्थः । सहकारित्वेन चास्य लीलोपक-
 रणत्वम् । ईश्वरेण सृष्ट्यादिनिर्वाहसमये सत्यसंकरूपेण स्वेन कृतस्य कालनियम-
 स्यानुसारेण तत्तत्कालागमनं प्रतीक्ष्य निर्वहणात् । अयं च निमेषकाष्ठादिरूपेण
 परिणामात्सृष्टिविषयोऽपि भवतीति बोध्यम् । लीलाविभूताविति । वैकुण्ठाति-
 रिक्तसृष्टिलीलाविभूतिः । वैकुण्ठसृष्टिर्नित्यविभूतिः । न स्वातन्त्र्यमिति ।

१ घ. °स्या मध्याह्नः । म° । २ क. °सं द्विपादध° । ३ घ. °विस्वम् । ४ अन्ये तु इत्या-
 र्भ्य बाधधोरयन्तः पाठः ऋ. घ. पुरतकर्योर्न वृष्यते ।

प्रत्यक्षसाधकश्च । केचित्तु षडिन्द्रियवेद्यः काल इत्यप्याहुः । तेनानुमेयवाद-
निरासः । इति कालो निरूपितः ।

इति श्रीबाधूलकुलतिलकश्रीमन्महाचार्यस्य प्रथमदासेन श्रीनिवासदासेन
विरचितायां यतीन्द्रमतदीपिकायां कालनिरूपणं
नाम पञ्चमोऽवतारः ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽवतारः ।

अथ नित्यविभूतिर्निरूप्यते— शुद्धसत्त्वधर्मभूतज्ञानजीवेश्वरसाधारणं लक्ष-
णमजडत्वम् । अजडत्वं नाम स्वयंप्रकाशत्वम् । तत्र शुद्धसत्त्वधर्मभूतज्ञानसा-
धारणलक्षणं पराक्त्वे सत्यजडत्वम् । तत्तु स्वयंप्रकाशत्वे सति परस्मा एव
भासमानत्वम् ।

कालः संपच्यते तत्र न कालस्तत्र वै प्रभुरित्युक्तत्वात् । षडिन्द्रियेति । क्षणमयं
तिष्ठतीत्यादिप्रकारेण तत्तदर्थविशेषणतया प्रतीतेः । नीरूपस्यापि रूपादेरिव प्रत्यक्ष-
विषयत्वमिष्टमेव । अनुमीयमानस्तु न विशेषणम् । न हि वह्निमनुमाय वह्निमान्पर्वत
इति प्रत्यक्षं भवति । किंच प्रत्यक्षप्रतीतौ विशेषणतया दृश्यमानस्य कालस्यानुमेयत्वे
प्रत्यक्षज्ञानविषयीभूतानां घटादिपदार्थानामप्यानुमानिकत्वं प्रसज्येतेति सौत्रान्तिक-
वादप्रसङ्ग इति बोध्यम् ।

इति श्रीयतीन्द्रमतदीपिकाप्रकाशे पञ्चमोऽवतारः ॥

अथ षष्ठोऽवतारः ।

नित्यविभूतिरिति । इयमेव शुद्धसत्त्वशब्देन व्यवहियते । शुद्धं सत्त्वं यत्रेत्य-
र्थात् । पराक्त्वे सतीति । धर्मभूतज्ञानस्येव शुद्धसत्त्वस्यापि परस्मै भासमानत्वात्प-
राक्त्वम् । बन्धकाले तु शुद्धसत्त्वं न प्रकाशते । सुषुप्तौ धर्मभूतज्ञानवत् । अजडत्व-
मिति । ननु प्रसिद्धशास्त्रेषु तावदजडत्वं शुद्धस्य सत्त्वस्य न पश्यामः । अथ
रहस्यागमवाक्यविशेषैस्तदिष्येत तर्हि षाड्गुण्यमयत्वमपि तस्येष्टव्यम् । तथा च
चेतनत्वप्रसङ्गः । अतस्त्रिगुणविभूतेरिवास्या नित्यविभूतेरपि जडत्वमेवेति चेदत्र
केचित्—निःशेषाविद्यानिवृत्तिहेतुतया निरुपाधिकज्ञानविकासस्थानतया वा आयुर्वृत-
मितिवज्जडेऽप्यजडत्वोपचार इति । वस्तुतस्तु किमात्मिकेषा भगवतो व्यक्तिरिति

शुद्धसत्त्वं नाम त्रिगुणद्रव्यव्यतिरिक्तत्वे सति सत्त्ववत्त्वं निःशेषाविद्या-
निवृत्तिदेशविजातीयान्यत्वम् । सा विभूतिरूर्ध्वप्रदेशेऽनन्ता । अधःप्रदेशे

प्रश्ने यदात्मको भगवानिति प्रतिवचनात्किमात्मको भगवानिति पुनः प्रश्ने ज्ञानात्मक
इत्युक्तत्वाज्ज्ञानात्मकत्वेन मुख्यमेवाजडत्वमस्याः ।

स्वसत्ताभासकं सत्त्वं गुणसत्त्वाद्विलक्षणम् ।

इत्युपबृंहणस्वारस्याच्च । नन्वियं नित्यविभूतिः प्राकृतत्रिगुणमय्येवेत्यनित्यैव ।
नित्यत्वं त्वापेक्षिकम् । अत एव ' सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ' इति
कारणवाक्य एकत्वावधारणमुपपद्यते । नित्यविभूतेर्नित्यत्वे तु जगत्कारणस्य सद्वि-
तीयत्वापत्तिः । शुद्धसत्त्वव्यवहारस्तु रजस्तमसोरभिभूततयाऽप्युपपद्यत इति चेन्मै-
वम् । श्रुतावेकत्वावधारणं स्रक्ष्यमाणव्यपेक्षम् । सृष्टिकालापेक्षया स्रक्ष्यमाणस्य
जगत उपदेशकालापेक्षयेदंकारगोचरस्य प्रलयदशायामविभक्तनामरूपतयैकत्वमवधा-
र्यते । तथा चोक्तं संवित्सिद्धौ —

यथा चोलनृपः सम्राडद्वितीयोऽद्यं भूतले ।

इति तत्तुल्यनृपतिनिवारणपरं वचः ॥

न तु तद्भृत्यतत्पुत्रकलत्रादिनिषेधकम् ॥ इति ।

अवश्यं चैतत्सर्वैरभ्युपेयम् । अन्यथा मायावादिमतेऽप्येकत्वावधारणेन प्रलये
मायाया विलयापत्तिः । औपाधिकभेदादिमते चोपाध्यंशप्रध्वंसः स्यात् । यदि मायो-
पाधिविलयस्तैरभ्युपगम्येत तर्हि ब्रह्मणस्तदुपहितत्वाभावेन विश्वप्रसूत्यमावादनुपहि-
तस्य जगत्कारणत्वानभ्युपगमात्कारणवाक्यं दत्तजलाञ्जलि स्यादित्यवधेयम् ।

शुद्धसत्त्वं नामेति । तमोरहितत्वे सति सत्त्ववत्त्वमित्यपि लक्षणं बोध्यम् ।
शुद्धसत्त्वे प्रमाणं तु ' आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ' (श्वे० ३।८) ' यो अस्या-
ध्यक्षः परमे व्योमन् ' (तै० ब्रा० २।८।९) ' सहस्रस्थूणे विमिते दृढ उग्रे यत्र देवा-
नामधि देव आस्ते ' ' तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ' (नृ० पू०
१ । १०) इत्यादिश्रुतयः । तद्विष्णोरित्यत्र व्यतिरेकनिर्देशबलात्स्वरूपाद्भेदे सिद्धे
पदशब्दस्वारस्यात्सदा दृश्यत्वबलाच्च सदा पश्यदनेकद्रष्टृविशिष्टस्थानाविशेषाविधि-
रिति विशिष्टविधिर्बोध्यः । तच्चाऽऽकाशं सनातनमिति रामायणं दिव्यं स्थानमजरं
चाप्रमेयमिति महाभारतं चात्र प्रमाणम् । अनन्तेति । श्रुतौ नित्यविभूतेरानन्त्यस्य
तमःपरत्वस्य च प्रतिपादनेनाऽऽनन्त्यतमःपरत्वयोर्विरुद्धयोरेकत्र समावेशाय केनचि-

परिच्छिन्ना । अचेतना स्वयंप्रकाशा च । आनन्दावहत्वादानन्दनामिका ।
पञ्चोपनिषन्मन्त्रप्रतिपाद्यतया पञ्चोपनिषदात्मिका । अप्राकृतपञ्चशक्तिर्मत्तया
पञ्चशक्तिर्मयेति निगद्यते ।

सा विभूतिरीश्वरस्य नित्यानां मुक्तानां चेश्वरसंकल्पाद्भोग्यभोगोपकरण-
भोगस्थानरूपा च भवति । भोग्यमीश्वरशरीरादि । भोगोपकरणं चन्दनकुसुम-
वस्त्रभूषणायुधादीनि । भोगस्थानं तु गोपुरपुरप्राकारमण्डपाविमानोद्यानप-
द्भिन्षादिकम् । तत्रेश्वरस्य नित्यानां च शरीराणि भगवन्नित्येच्छासिद्धानि ।
मुक्तानां शरीराणि तेषां पित्रादिसृष्टिर्युगपदनेकशरीरपरिग्रहा इत्यादीनि
भगवत्संकल्पादेव भवन्ति । भगवतो व्यूहविभवा र्चावतारशरीराण्यप्यप्रकृ-
तमयानि । अर्चावतारेषु प्रतिष्ठानन्तरं प्रसादोन्मुखेश्वरसंकल्पाधीनमप्राकृत-
शरीरमात्रमाविर्भवति । प्राकृताप्राकृतसंसर्गः कथमिति न शङ्कनीयम् ।
श्रीरामकृष्णाद्यवतारशरीरवदिति प्रमाणानुसारेण परिहारो द्रष्टव्यः ।

त्प्रदेशेनाऽऽनन्त्यं केनचित्प्रदेशेन च तमःपरत्वमगत्या कल्प्यत इत्याशयः । स्वयं-
प्रकाशेति । केचित्तु निरतिशयदीप्तियोगादस्याः स्वयंप्रकाशत्वव्यपदेशः । एवमेवात्य-
न्तानुकूलरूपरसगन्धादियोगादानन्दव्यपदेश इत्याहुः ।

भोग्येति । इयं च नित्यमुक्तेश्वराणामिच्छानुरूपशरीरेन्द्रियप्राणविषयरूपेणाव-
तिष्ठते ।

इन्द्रियच्छिद्रविधुरा द्योतमानाश्च सर्वशः ।

इति वचनं तु कर्मकृतेन्द्रियाभावपरम् । 'अशरीरं वाव सन्तम्' (छा. ८।१२
१) इत्यादिषु कर्मकृतशरीरादिप्रतिषेधवत् । तत्र कानिचिच्छरीराणि नित्यादीना-
मीश्वरस्य च नित्येच्छापरिग्रहादित्यानि । कानि चिदनित्येच्छापरिग्रहादनित्यानि ।
मुक्ताश्च कदाचिदशरीराः कदाचिच्च सशरीरा इति भाष्यम् । इन्द्रियाणि तु तत्रत्यानि
सर्वाण्यपि नित्यानि । तत्र व्योमादिवदेवोपादाननिरपेक्षत्वात् । तत्र कानिचिन्नित्यै-
रीश्वरेण च नित्यपरिगृहीतानि । मुक्तानां तु तत्परिग्रहः शरीरवत्कादाचित्क एवेति
बोध्यम् । नित्यविभूतिरपि त्रिगुणवच्चतुर्विंशतितत्त्वात्मिका । किंत्वेषां तत्त्वानां न
प्रकृतिविकृतिभावः । दिव्यमङ्गलविग्रहादनित्यत्वश्रवणादिति केचित् ।

१ घ. 'मयत्तया' । २ घ. 'मयीति' । ३ घ. 'त्या । मुक्तानामाश्व' । ४ घ. 'नां ते' ।
५ क. 'कृतानि' । ६ घ. 'रमन्नाऽऽवि' ।

मुक्तानां शरीरपरिग्रहस्तु वसन्तोत्सववेषपरिग्रहादिवत्स्वामिनः कैर्कर्यमेव ।
ईश्वरशरीरस्य षाड्गुण्यमिति व्यवहारः । षाड्गुण्यप्रकाशकत्वात् । नित्यानिर-
वर्धनिरतिशयौज्ज्वल्यसौन्दर्यसौगन्ध्यसौकुमार्यलावण्ययौवनमार्दवार्जवाद्-
यो दिव्यमङ्गलविग्रहगुणाः । तस्य व्यापकत्वं गीतादिषु प्रसिद्धम् । मुक्तस्य
शरीरं नास्तीति वचनं तु कर्मकृतशरीराभावपरम् । तत्रत्येन्द्रियाणां नित्य-
त्वात् । अत एव कार्यकारणभावाभावात्प्राकृतवन्न तत्त्वान्तरव्यपदेशः ।
एतेन तत्र शरीरादिकं नास्तीति मतनिरासः । तमसः परस्तादित्युक्त्या
प्रकृत्येकदेशवादिमतनिरासः । अप्राकृतशब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्रयत्वादाकाशा-
दिव्यावृत्तिः । ज्ञानात्मकत्वप्रतिपादनाज्जडमिति मतनिरासः ।

भगवतोऽप्राकृतदिव्यमङ्गलविग्रहस्त्वस्त्रभूषणाध्यायोक्तसर्वोपाश्रयः । तद्य-
था—पुरुषस्य कौस्तुभाकारत्वम् । प्रकृतेः श्रीवत्सरूपत्वम् । महतो गदारूपत्वम् ।

कैर्कर्यमेवेति । नित्यमुक्तानां शरीरादिपरिग्रहो भगवदभिमततत्कैर्कर्यरूपभोगाय
भगवतोऽपि स्वभोगाय स्वशेषभूतनित्यमुक्तानन्दनाय मुमुक्षुपास्यत्वसिद्धये चेत्युक्त-
त्वात् । तत्र भगवतः स्वसंकल्पादेव शरीरादिपरिग्रहः । नित्यमुक्तानां तु कदाचित्प-
रमपुरुषमात्रसंकल्पात्कदाचित्परमपुरुषसंकल्पानुविधायिस्वसंकल्पाच्चेति भावः । ज्ञाना-
त्मकत्वेति । ज्ञानात्मकत्वं चात्र स्वयंप्रकाशत्वमेवेति न्यायसिद्धाञ्जनम् ।

अस्त्रभूषणाध्यायेति । तत्र हेतदुक्तम्—

आत्मानमस्य जगतो निर्लेपमगुणामलम् ।

विभर्ति कौस्तुभमणिस्वरूपं भगवान्हरिः ॥

श्रीवत्सरसंस्थानधरमनन्ते च समाश्रितम् ।

प्रधानं बुद्धिरप्यास्ते गदारूपेण माधवे ॥

भूतादिमिन्द्रियादिं च द्विधाऽहंकारमीश्वरः ।

विभर्ति शङ्करूपेण शार्ङ्गरूपेण संस्थितम् ॥

चलस्वरूपमत्यन्तजवेनान्तरितानिलम् ।

चक्रस्वरूपं च मनो धत्ते विष्णुः करे स्थितम् ॥

पञ्चरूपा तु या माला वैजयन्ती गदाभृतः ।

सा भूतहेतुसंघातो भूतमाला च वै द्विज ॥

१ ख. प्रहादिस्तु । २ ख. 'वनिर्दोषनिर' । ३ क. ख. 'प्रहा गु' । ४ घ. शिरेन्द्रियादि ।
५ घ. 'उत्वम्' । ६ महतो इत्यारभ्य चक्रत्वमित्यन्तः पाठः क. पुस्तके न दृश्यते ।

सात्त्विकाहंकारस्य शङ्करूपत्वम् । तामसाहंकारस्य शार्ङ्गत्वम् । ज्ञानस्य
खद्गरूपत्वम् । अज्ञानस्य तदावरकत्वम् । मनसश्चक्रत्वम् । ज्ञानेन्द्रियाणां
कर्मेन्द्रियाणां शररूपत्वम् । स्थूलसूक्ष्मभूतानां वनमालात्वम् ।

चेतश्चकृति चेतनासिरमतिस्वत्संवृतिर्मालिका

भूतानि स्वगुणैरहंकृतियुगं शङ्केन शार्ङ्गयते ।

बाणाः खानि दशापि कौस्तुभमणिर्जीवः प्रधानं पुनः

श्रीवत्सं कमलापते तव गदामाहुर्महान्तं बुधाः ॥

इति संगृह्यो(ग्रहो)क्तं पद्यमनुसंधेयम् ।

सा विभूतिरामोदप्रमोदसंमोदवैकुण्ठाख्यरूपेण चतुर्विधा पुनरनन्ता च । त्रिपा-
द्विभूतिपरमपदपरमव्योमपरमाकाशाशामृतनाकाप्राकृतलोकानन्दलोकवैकुण्ठायो-
ध्यादिशब्दवाच्या । एतस्यां विभूतौ द्वादशावरणोपेतमनेकगोपुरप्राकारैरावृतं
वैकुण्ठं नाम नगरम् । तत्राऽऽनन्दनामकं दिव्यालयम् । तदन्तः, रत्नमघानेक-
स्तम्भसहस्रैर्विरचिता महामणिमण्डपाख्या सभा । तस्यां सहस्रफणामणि-
तेजोविराजितोऽनन्तः । तस्मिन्धर्मादिमयदिव्यसिंहासनम् । तदुपरि चामर-
हस्तैर्विमलादिभिः सेवितमष्टदलात्मकं पद्मम् । तदुपरि प्रकृष्टविज्ञानधामा
शेषः । तदुपरि वाचः परमद्भुतम् । एवं नित्यविभूतिर्निरूपिता ।

इति श्रीवाधूलकुलतिलकश्रीमन्महाचार्यस्य प्रथमदासेन श्रीनिवास-
दासेन विरचितायां यतीन्द्रमतदीपिकायां नित्यविभूति-
निरूपणं नाम षष्ठोऽवतारः ॥ ६ ॥

====

यानीन्द्रियाण्यशेषाणि बुद्धिकर्मात्मकानि वै ।

शररूपाण्यशेषाणि तानि धत्ते जनार्दनः ॥

विभूर्ति यच्चासिरत्नमच्युतोऽत्यन्तनिर्मलम् ।

विद्यामयं तु तज्ज्ञानमविद्या चर्मसंस्थितम् ॥ इत्यादि ।

विमलादिभिरिति । विमलादयश्च नित्यपारिषद्या इत्याहुः ।

इति श्रीयतीन्द्रमतदीपिकाप्रकाशे षष्ठोऽवतारः ॥

====

अथ सप्तमोऽवतारः ।

—०:०:—

अयं क्रमप्राप्तं धर्मभूतज्ञानं निरूप्यते—स्वयंप्रकाशाचेतनद्रव्यत्वे सति विषयित्वम् । विभुत्वे सति प्रभावद्द्रव्यगुणात्मकत्वम् । अर्थप्रकाशो बुद्धिरिति तल्लक्षणम् । तद्धर्मभूतज्ञानभीश्वरस्य नित्यानां च सर्वदा नित्यमेव विभु च । बद्धानां तिरोहितमेव । मुक्तानां पूर्वं तिरोहितमनन्तरमाविर्भूतम् । ज्ञानस्य नित्यत्वे ज्ञानमुत्पन्नं ज्ञानं नष्टमिति व्यवहारः कथमिति चेन्न । ज्ञानस्य संकोचविकाशावस्थामादाय तत्संभवात् । दृतेः पादाद्यथोदकं क्षरति तथा ज्ञानमपीन्द्रियद्वारा निःसृत्यार्थेन संनिकृष्यते । अहिकुण्डलवत्संकोचविकासौ ।

अथ सप्तमोऽवतारः ।

स्वयंप्रकाशेति । ज्ञानं हि विषयप्रकाशवेलायां स्वाश्रयस्यैवाऽऽत्मनः स्वयंप्रकाशम् । अन्यकालान्यपुरुषगतं तु स्मृत्यनुमानादिविषयः संसारिणाम् । इतरेषां तु सर्वज्ञतयाऽन्यकालान्यपुरुषगतमपि स्वकीयेन प्रत्यक्षेण विषयी क्रियते । तथा च माण्ड्यम्—‘ यत्स्वभूतेः स्वयंप्रकाशत्वमुक्तं तद्विषयप्रकाशनवेलायां ज्ञातुरात्मनस्तथैव न तु सर्वेषां सर्वदा तथैवेति नियमोऽस्ति ’ इति । अत एवाऽऽहुः—

स्वधीविशेषं सर्वज्ञोऽप्यध्यक्षयति वा न वा ।

आद्ये सिद्धा स्वतः सिद्धिरन्यत्रासर्ववेदिता ॥

ज्ञानमस्तीति विज्ञानं स्वात्मानं साधयेन्न वा ।

पूर्वत्र स्वप्रकाशत्वं सर्वासिद्धिरतोऽन्यथा ॥ इति ।

नित्यमेवेति । तथा च श्रुतिः—‘ न विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते ’ (बृ. ४ । ३ । ३०) इति । स्मृतिरपि—

यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनान्मणैः ।

दोषप्रहाणान्न ज्ञानमात्मनः क्रियते तथा ॥

यथोदपानकरणात्क्रियते न जलाम्बरम् ।

सदेव नीयते व्यक्तिमसतः संभवः कुतः ॥

तथा हेयगुणध्वंसादवबोधादयो गुणाः ।

प्रकाश्यन्ते न जन्यन्ते-नित्या एवाऽऽत्मनो हि ते ॥ इति ।

इन्द्रियद्वारोति । एतदर्थमेव हि ज्ञानस्येन्द्रियापेक्षा । एतेन ज्ञानस्य नित्यत्वेनोत्पत्त्यभावात्तस्येन्द्रियानपेक्षत्वमेव स्यादित्युच्यते । निःसृत्येति । निःसरणं चैतत्

सर्वं ज्ञानं स्वत एव प्रमाणं स्वप्रकाशं च । विप्रतिपन्ना संवित्स्वग-
तव्यवहारं प्रति स्वाधीनकिंचित्कारा स्वजातीयसंबन्धानपेक्षव्यवहारहेतुत्वात् ।
अर्थेन्द्रियदीपवत् । न च चक्षुरालोकयोः सजातीयत्वम् । अहंकारिकतैज-
सभेदाद्भेदः । अनेन ज्ञानस्य क्षणिकत्वं त्रिक्षणावस्थायित्वं प्रातिभासिक-
व्यवहारस्य मिथ्यात्वं परतः प्रामाण्यं ज्ञानस्यैवाऽऽत्मत्वमित्यादिपक्षा
निरस्ताः ।

स्वम्भः स्वम्भ इत्यादिधारावाहिकं ज्ञानं त्वेकमेव । नन्वागमवलाज्ज्ञानस्य
नित्यत्वाङ्गीकारे कथं जागरसुषुप्त्यादिभेदसिद्धिरिति चेन्न । यथा दाहकस्य
वह्नेर्दाहिसंनिधौ मण्यादिप्रतिबन्धके दाहाभावस्तद्वज्ज्ञानस्य तिरोधायक-

‘ प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी ’ (श्वे. ४ । १८) इति श्रुतिस्वरसासिद्धम् ।
नन्वाकाशवदमूर्तत्वाद्गुणत्वाच्च ज्ञानस्य कथं क्रियावत्त्वमिति चेत् । किमिदममूर्त-
त्वम् । क्रियारहितत्वमिति चेद्व्योन्वयाश्रयः । स्पर्शरहितत्वमिति चेद्व्यभिवर्तितो
हेतुः । स्पर्शरहितेऽपि शब्दे क्रियादर्शनात् । स खलु शङ्खमुखादेर्दवीयसोऽपि देशा-
न्नोदनविशेषेण लोष्टादिरिव यावद्वेगं प्रतिष्ठते । ज्ञानस्य गुणत्वेऽपि द्रव्यत्वस्याग्रे
वक्ष्यमाणत्वात्क्रियावत्त्वमविरुद्धम् । एतेनाऽऽत्मवर्धभूतज्ञानस्य स्वाश्रयादन्यत्र कथं
गमनमिति परास्तम् ।

स्वत एवेति । तदुक्तं सर्वार्थसिद्धौ—घटोऽस्तीति ज्ञानमुत्पद्यते । तत्र विषयास्ति-
त्वमेव प्रामाण्यम् । तत्तु तेनैव ज्ञानेन प्रतीयते । अतः स्वतः प्रामाण्यं प्रतीयते ।
यत्र पुनः शुक्तौ रजतज्ञानमुत्पद्यते तत्रापि ‘ रजतमस्ति ’ इति रजतास्तित्वमेव प्रतीयते ।
न पुनर्नास्तित्वं तेनैव ज्ञानेन प्रतीयते । अतो विषयास्तित्वं स्वेन, नास्तित्वं च
बाधकेन प्रतीयत इति स्वतः प्रामाण्यप्रतीतिरप्रामाण्यप्रतीतिः परत इति विभाग
इति । किंच यथा जल उष्णस्पर्शस्य न स्वतस्त्वम् । किंतु परतस्त्वम् । तस्य
स्वतस्त्वं तु तेजसि प्रसिद्धम् । तथा ज्ञाने प्रमाणत्वस्य यदि परतस्त्वं स्यात्तर्हि
तस्यान्यत्र क्वचिदपि स्वतस्त्वमावश्यकम् । तच्च न संभवति । प्रमाणत्वस्य ज्ञानमा-
त्रनिष्ठत्वात् । अतस्तस्य ज्ञाने स्वतस्त्वमेवाङ्गीकार्यमिति समाप्तौ कौ विस्तरः ।

एकमेवेति । धारावाहिकविज्ञानं निरन्ध्रनिर्यातमणिमयूखवदेकरूपम् । तदुक्तं
प्रज्ञापारित्राणे—

स्वम्भः स्वम्भः स्वम्भ इति धीर्धारावाहिका मता ।

धारावाहिकविज्ञानमेकं ज्ञानं मतं हि नः ॥

तमोविशेषसंनिधानासंनिधानाभ्यां स्वापादिसिद्धिः । पुंस्त्वादिवच्च । पुंस्त्वा-
दिकं बाल्ये तिरोहितं यौवन आविर्भवति । यो यदाश्रितस्वभावः स तस्य
गुण इति लक्षणलक्षितत्वाज्ज्ञानं गुणः । विशेषणादिवत् । यतः संकोचवि-
काशावस्थावत्, अतो द्रव्यमपि भवति । आत्मगुणभूतज्ञानस्य द्रव्यत्वं कथ-
मिति न शङ्कनीयम् । प्रभावदेकस्यैव द्रव्यत्वगुणत्वयोर्विरोधाभावात् ।
अवस्थाश्रयो द्रव्यमिति द्रव्यलक्षणम् । स्वाश्रयादन्यत्र वर्तमानत्वमपि प्रभा-
षदेवोपपद्यते । प्रयोगश्च—गुणभूता बुद्धिर्द्रव्यं प्रसारणादिमत्त्वात्प्रभावत् ।
ज्ञानं द्रव्यं संयोगादृष्टान्यत्वे सति भावनाकारणत्वादात्मवदिति । मुक्तज्ञा-
नस्य युगपदनन्तदेहसंयोगो नयनसूर्यादितेजोवत्संभवति ।

प्रतिबन्धांशमोक्षाद्यैर्नित्यं ज्ञानं हि जायते ।

चिरमप्रतिबन्धेन चिरं तिष्ठति भासकम् ॥ इति ।

अन्ये तु धारावाहिकविज्ञानं स्नेहदशादिसमवायसंतन्धमानदीपवत्संततिरूपमित्याहुः ।
स्वापादीति । यत्तु षडर्थसंक्षेपे श्रीराममिश्रैरुक्तम्—स्वतः सिद्धिरियं संवित्सुषुप्ता-
वपि स्फुरत्येव । स्वाश्रयायैव हि सा भाति । अव्यवहारनियमस्तु करणोपरातिनिय-
मादिति । विवरणेऽप्येवमेवोक्तम् । तत्सर्वं प्रौढिवाद् इति ज्ञेयम् । अन्यथा 'पुंस्त्वा-
दिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्' (ब्र. सू. २ । ३ । ३१) इति सूत्रेण तद्भा-
ष्येण च विरोधात् । तद्ध्वनयन्नाह—पुंस्त्वादीति । किंच यथा सर्वविषयप्रकाश-
नशीलायाः संविदः समस्तबाह्यविषयवैमुख्यं तथाऽऽन्तस्विषयवैमुख्यमपि स्यादेवेति
बोध्यम् । द्रव्यमपीति । न तावदस्माकमद्रव्यमेव गुण इति वैशेषिकादिवन्निबन्धः ।
विशेषणादिवत् । यो यदाश्रितस्वभावः स तस्य गुण इति हि गुणलक्षणम् । न
तु पारिभाषिकम् । सर्वव्यवहारविरोधात् । अत एवोक्तं यामुनाचार्यैः—

आश्रयादन्यतो वृत्तेराश्रयेण समन्वयात् ।

द्रव्यत्वं च गुणत्वं च ज्ञानस्यैवोपपद्यते ॥ इति ।

एवं च केचिद्द्रव्यात्मकगुणाः केचित्केवलगुणा इति द्विविधा गुणाः । पूर्वं ज्ञाना-
दयः । उत्तरे सत्त्वरजःप्रभृतय इति बोध्यम् । अनन्तोति । अत्र च ज्ञाननिष्ठो
वेगातिशयः कारणम् । इष्टं च विचित्रवेगित्वं नायनतापनादिमहसाम् । तच्च काष्ठा-
प्राप्तं युगपत्त्रिचतुरक्षणेन वा विश्वमास्कन्दते ।

ज्ञानं, मतिः, प्रज्ञा, संवित्, धिषणा, धीः, मनीषा, वेमुषी, मेधा, बुद्धिरित्येवम दयः शब्दा ज्ञानपर्यायाः । बुद्धिरेवोपाधिभेदान् सुखदुःखेच्छाद्वेषमयत्नरूपा । सुखादिजनकतया ज्ञानातिरिक्ते प्रमाणाभावात् । ' इच्छामि द्वेष्मि ' इति व्यवहारस्य स्मरामीत्यादिवज्ज्ञानविशेषणैरोपपत्तेः । ननु कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा श्रद्धा धृतिरधृतिर्हीर्षीर्भीरित्येवत्सर्वं मन एवेत्युक्तम् । ज्ञानरूपत्वं कथमिति चेन्न । ज्ञानस्य मनःसहकारित्वनिषमान्मन एवेत्युपचारादुक्तमिति न विरोधः ।

एवं प्रत्यक्षानुपानागमस्मृतिसंशयविपर्ययभ्रपविवेकव्यवसायमोहरागद्वेषमदमात्सर्ष्याधैर्यचापल्यदम्भलोभक्रोधदर्पस्तम्भद्रोहाभिनिवेशनिर्वेदानन्दा-

सुखादीति । सुखादिजनकतया सुखादिव्यतिरिक्तज्ञानाङ्गीकारे प्रमाणाभावादित्यर्थः । एतदुक्तं भवति—विषयज्ञानानि विषयाधीनविशेषाणि सुखदुःखमध्यस्थसाधारणानि भवन्ति । तत्र येन विषयविशेषेण विशेषितं ज्ञानं सुखस्य जनकमित्यभिमतं तद्विषयज्ञानमेव सुखम् । तदतिरेकिपदार्थान्तरं नोपलभ्यते । तेनैव च सुखित्वव्यवहारोपपत्तेरिति । उपपत्तेरिति । वैषयिकसुखदुःखस्वरूपत्वं च ज्ञानस्य विषयाधीनमिति विषयस्यापि सुखदुःखशब्दवाच्यत्वमस्त्येवेति सुखं स्वर्ग इत्यादिव्यवहारोपपत्तिः । अत एव वेदार्थसंग्रहे—' विषयायत्तत्वाज्ज्ञानस्य सुखरूपतया ब्रह्मैव सुखम् ' इत्युक्तम् ।

एवं प्रत्यक्षेति । स्मृतिर्नाम पूर्वानुभवजन्यसंस्कारमात्रजन्यं ज्ञानम् । अनध्यवसायो ज्ञानं संशयः । विपर्ययोऽन्यथाज्ञानम् । तच्च धर्मविपर्यासरूपम् । भ्रमो धर्मविपर्यासः । संदेहानन्तरं जायमान ऊहो विवेकः । व्यवसाय उद्यमः । भयादिजन्यं वस्तुतत्त्वानवधारणं मोहः । रागो विषयानुबुभूषा । द्वेषो विषयजिहासा । विषयानुभवजन्यो ज्ञानविशेषो मदः । स्वप्रयोजनप्रतिसंधानं विना परामिमतनिवारणेच्छामात्सर्ष्यम् । आरब्धायाः क्रियाया विघ्नोपनिपातेऽपि तत्समापनसामर्थ्यं धैर्यम् । तदभावोऽधैर्यम् । चापल्यं चञ्चलता । धार्मिकत्वख्यापनाय धर्मानुष्ठानं दम्भः । धर्मविरोधेन परद्रव्येच्छा लोभः । तदुक्तं पञ्चपुराणे—

परवित्तादिकं दृष्ट्वा नेतुं यो हृदि जायते ।

अभिलाषो द्विजश्रेष्ठ स लोभः परिकीर्तितः ॥ इति ॥

परपीडाफलकश्चित्तविकारः क्रोधः । कृत्याकृत्याविवेककरो विषयानुभवनिमित्तो हर्षो दर्पः । स्तम्भोऽनारम्भशीलत्वम् । परेषु स्वच्छन्दवृत्तिनिरोधो द्रोहः । अभि-

दयः सुमतिर्दुर्मतिसुप्रीतितुष्टयुन्नातिशान्तिविरक्तिरतिभैत्रीदयामुमुक्षालज्जाति-
 तिक्षाविचारणाजिगीषामुदिताक्षमाचिकीर्षाजुगुप्साभावनाकुहनासूयाजिघां-
 सातृष्णादुराशावासनाचर्चाश्रद्धा भक्तिः प्रपत्तिरित्येवमादयश्च जीवगुणा
 अनन्ता धर्मभूतज्ञानावस्थाविशेषा एव । एवं ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजः-
 सौशील्यवात्सल्यमार्दवार्जवसौहार्दधैर्यसाम्यकारुण्यमाधुर्यगाम्भीर्यौदार्यस्थै-
 र्यपराक्रमादयो भगवतोऽनन्तकल्याणगुणा ज्ञानशक्तिविततिभूताः ।

तत्र ज्ञानं नाम सर्वसाक्षात्काररूपम् । शक्तिरघटितघटनासामर्थ्यम् । बलं
 धारणसामर्थ्यम् । ऐश्वर्यं नियमनसामर्थ्यम् । वीर्यमविकारित्वम् । तेजः
 पराभिर्भवसामर्थ्यम् । महतो मन्दैः सह नीरन्ध्रेण संश्लेषस्वभावत्वं सौशी-
 ल्यम् । वात्सल्यं दोषेऽपि गुणत्वबुद्धिर्दोषादर्शित्वं वा । आश्रितविरहासहत्वं
 मार्दवम् । मनोवाक्यायैकरूपमार्जवम् । स्वसत्तानपेक्षतद्रक्षापरत्वं सौहार्दम् ।

निवेश आग्रहः । आक्रोशनावज्ञादिजनितो विषयद्वेषाख्यश्चित्तविकारो निर्वेदः ।
 इष्टप्राप्त्यादिजन्मा सुखविशेष आनन्दः । सुमतिः समीचीना मतिः । तद्विपरीता
 मतिर्दुर्मतिः । सुप्रीतिः प्रियत्वम् । सर्वेषु दृष्टेषु तोषस्वभावत्वं तुष्टिः । पराक्रमदाना-
 दिस्मृतिजन्य उत्साह उन्नतिः । इन्द्रियाणां विषयप्रावण्यनिरोधसंशालनं शान्तिः ।
 दोषदर्शनाद्विषयत्यागेच्छा विरक्तिः । प्रेमाख्यश्चित्तविकारो रतिः । मैत्री मित्रत्वम् ।
 मृतेषु सर्वेषु दुःखासहिष्णुत्वं दया । मुमुक्षा मोक्षेच्छा । अकार्यकरणादिजन्यो
 ज्ञानविशेषो लज्जा । परपीडानुभवेऽपि तत्सहनेच्छा तितिक्षा । विचारणा सद्विचार-
 प्रवृत्तिः । जिगीषा जयेच्छा । भोग्यवस्तुदर्शनजश्चित्तविकारो मुदिता । परनिमित्त-
 पीडानुभवेऽपि चित्तविकारराहित्यं क्षमा । चिकीर्षा क्रियाविषयेच्छा । कदर्यवस्तुविलो-
 कनादिजन्यश्चित्तविकारविशेषो जुगुप्सा गोपनेच्छा वा । भावना संस्कारविशेषः ।
 कुहना विस्मापना वञ्चना वा । गुणेषु दोषाविष्करणमसूया । जिघांसा हननेच्छा ।
 तृष्णाऽभिलाषविशेषो धर्माविरोधेन परद्रव्येच्छारूपः । दुराशा दुरिच्छा । वासना
 संस्कारविशेषः । चर्चा पूजा । श्रद्धा विश्वासः । भक्तिप्रपत्त्योः स्वरूपमनुपदं वक्ष्यते ।
 ज्ञानावस्थाविशेषा इति । तेषु च ज्ञानजन्यत्वादिना कचिद्देदप्रतिभासेऽपि ज्ञाना-
 तिरिक्ततदङ्गीकारे प्रमाणाभावाद्गौरवाच्चेत्याशयः । पराक्रमादय इति । आदिना
 क्षमादिसंग्रहः ।

१ घ. 'शादुर्वास' । २ क. 'प्रतिप' । ३ ख. 'णादयो ज्ञा' । ४ ग. घ. 'शक्त्वोर्वित' ।
 ५ न. 'ताः ज्ञा' । ६ ग. घ. 'वनसा' । ७ क. 'विहारस' । ८ ख. 'पेक्ष्यं त' ।

जन्मज्ञानवृत्तगुणानपेक्षया सर्वैराश्रयणीयत्वं साम्यम् । आश्रितदोषगोपनं चातुर्यम् । अकम्पनीयत्वं स्थैर्यम् । अभङ्गप्रतिज्ञत्वं धैर्यम् । परबलप्रवेशनसामर्थ्यं शौर्यम् । तन्निराकरणं पराक्रमः । स्वप्रयोजनमनपेक्ष्य परदुःखनिराचिकीर्षा दया । परदुःखदुःखित्वं वा । क्षीरवदुपाध्यभावेऽपि स्वादुत्वं माधुर्यम् । भक्तानुग्रहवदान्यत्वादेरामूलतो दुरवगाहत्वं गाम्भीर्यम् । भ्रंभूतं दत्त्वाऽप्यतृप्तत्वमौदार्यम् । एवं वदान्य इत्यादावप्युह्यम् ।

ज्ञानविशेषभूतयोर्भक्तिप्रपत्त्योः स्वरूपं किञ्चिदुच्यते—भक्तिप्रपत्तिभ्यां प्रसन्न ईश्वर एव मोक्षं ददाति । अतस्तयोरेव मोक्षोपायत्वम् । मोक्षोपायत्वे-

भक्तिप्रपत्तिभ्यामिति । अत एव 'मक्त्या त्वनन्यया लभ्यः' (गी. ११।१४) इति संगच्छते । महनीयविषये प्रीतिर्भक्तिः । सैवावस्थाभेदात्परमभक्त्यादिरूपतां भजते । सा चान्तरिक्षान्तरादित्यदहरभूमसन्मधूपकोसलशाण्डिरयोद्गीथपुरुषप्रतर्दन-वैश्वानरादिविद्याभेदाद्बहुधा । नन्वेवं भक्तेर्मोक्षसाधनत्वे 'तमेवं विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे. ३।८) इति श्रुतिविरोध इति चेन्न । एतासां विद्यानां बुद्धिविशेषरूपत्वात् । तयोरेवेति । तथा च भक्तिरूपापन्नोपासनध्यानवेदनादिशब्दवाच्योऽसकृदावृत्त आप्रायणादन्वहमनुवर्तमानो ज्ञानविशेषो मोक्षहेतुरिति कर्माङ्गकस्य ज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वं सिद्धम् । न केवलस्य कर्मणः । नापि ज्ञानसमुच्चितस्य । श्रुतौ वेदनमेव विधायोपायान्तरनिषेधेन तद्विरोधात् । वेदनाङ्गतया कर्मानुप्रवेशे तु न विरोधः । तथा सति तस्योपायान्तरत्वाभावात् । न च कर्मानुप्रवेशरहितस्य केवलस्यैव ज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वमस्त्विति वाच्यम् । तस्याध्ययनविधिसिद्धसाङ्गसशिरस्काध्ययनगृहीताक्षरराशिविशेषापातप्रतीतानिरतिशयपुरुषार्थसाधनार्थनिर्णयरगप्राप्तश्रवणमात्रेण निष्पन्नस्याविधेयत्वात् । तावति सिद्धेऽपि मोक्षादर्शनाच्च । तदुक्तमापस्तम्बेन—'बुद्धे क्षेमप्रापणम् । तच्छास्त्रैर्विप्रतिषिद्धम् । बुद्धे चेत्क्षेमप्रापणमिहैव न दुःखमुपलभेत' (आ. घ. सू. २।९।२१।१४-१६) । अस्यार्थः—'आत्मनि बुद्धे ज्ञाते सति तज्ज्ञानमेव क्षेमं मोक्षं प्रापयति' इति यदौडुलोमिनोक्तं तच्छास्त्रैर्विप्रतिषिद्धम् । शास्त्रेषु हि वाक्यार्थज्ञानोत्तरं ध्यानविधिर्बोध्यते । 'यावदायुषम्' इति मरणपर्यन्तं ध्यानानुवृत्तिश्च प्रतिपाद्यते । 'यावन्न विमोक्ष्ये' (छा. ६।१४।२) इति शरीरपातावधिश्च मोक्षस्य क्रियते । 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छां. ८।६।६) इति नाडीविशेषनिष्क्रमणं

नोक्तानां कर्मयोगज्ञानयोगप्रभृतीनां भक्तिद्वारैव साधनत्वम् । कर्मयोगो नामोपदेशज्जीवपरयाथात्म्यज्ञानवृत्ता शक्त्यनुसारेण फलसङ्गरहितानिषिद्धकाम्यनित्यनैमित्तिकरूपपरिगृहीतकर्मविशेषः । स तु देवार्चनतपस्तीर्थदान-पन्नादिभेदाभिन्नः । अयं तु जीवगतकल्पषापनयनद्वारा ज्ञानयोगमुत्पाद्य तद्द्वारा साक्षाद्भाक्त्युत्पादको भवति । ज्ञानयोगो नाम कर्मयोगाभिर्भिलान्तःकरणस्येश्वरशेषत्वेन प्रकृतिवियुक्तस्वात्त्वाचिन्ताविशेषः । एतस्य साक्षाद्भाक्त्युपयोगित्वम् । एवं साधनान्तराणामपि भक्त्युपयोगित्वमूह्यम् ।

भक्तियोगो नाम यमनियमासनमाणायामप्रत्याहारैश्चारणाध्ययनसमाधिरूपाष्टाङ्गवांस्तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसंतानरूपः । स च विवेकविमोकाभ्याम-

च मोक्षाङ्गत्वेन कथ्यते । अर्चिरादिमार्गेण गतिश्च मोक्षात्पूर्वं श्रूयते । दोषान्तरमाह— बुद्धे चेदिति । न दुःखमिति । न हि ज्ञानिनां मूर्धाभिषिक्तोऽपि क्षुधादुःखमेव तावत्क्षणमात्रं सोढुं प्रभवतीति । भक्तिद्वारैवेति । तदुक्तं न्यायसिद्धाञ्जने—‘भक्तियोगः परमप्राप्त्युपायभूतः । तदशक्तस्य तद्भक्तियोगसिद्ध्यर्थमात्मावलोकनमपेक्षितम् । तस्य च ज्ञानयोगकर्मयोगौ द्वौ पृथगुपायौ । तत्र ज्ञानयोगः स्वात्मावलोकनेऽन्तरङ्गः । तथाऽपि प्रथमं स दुष्करः । तदनधिकारिणस्तुल्यफलः कर्मयोग एव कार्यः । तदधिकारिणोऽपि व्यपदेश्यस्य लोकसंग्रहार्थं कर्मयोग एव कार्यः । अशक्तस्य ज्ञानयोगशक्तिं कर्मयोग एवोत्पादयति । तदा कर्मयोगं परित्यज्य ज्ञानयोगमनुतिष्ठतोऽपि न दोषः’ इति ।

यमनियमेति । यमादीनां स्वरूपं योगसूत्रे प्रतिपादितम् । तथा हि—‘अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमः’ (यो० सू० २।३०) । ‘शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमः’ (यो० सू० २।३२) । ‘स्थिरमुखमासनम्’ (यो० सू० २।४६) । आस्यतेऽनेनेत्यासनं पद्मासनादि । तद्यदा स्थिरं निष्कम्पं सुखमनुद्धेजनीयं च भवति तदा तद्योगाङ्गतां भजत इत्यर्थः । ‘तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः’ (यो० सू० २।४९) । तस्मिन्सति, आसनस्यैर्यं सतीत्यर्थः । ‘स्वस्वविषयसंप्रयोगाभावे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः’ (यो० सू० २।५४) । इन्द्रियाणि स्वस्वविषयेभ्यः प्रत्याह्रियन्ते प्रतिकूलतया ह्रियन्ते यस्मिन्निति प्रत्याहारः । चक्षुरादीन्द्रियाणां रूपादिविषयप्रवृत्त्यभावे सति, इन्द्रियाणि चित्तस्वरूपमात्रानुकारीणि यद्भवन्ति स प्रत्याहार इत्यर्थः । ‘देशबन्धाश्चि-

१ ख. ‘वत्ताश’ । २ ग. घ. ‘र्वनात’ । ३ ग. ‘र्थयात्रादा’ । ४ घ. ‘क्षात्कारम’ । ५ ख. ‘तियु’ । ६ ग. ‘चिन्तनवि’ । ७ ख. ‘स्थानधारणास’ ।

क्रियाकल्याणानवसादानुद्धर्षरूपसाधनसप्तकजन्यः । तत्र विवेको नाम जात्याश्रयनिर्मितादुष्टादन्नात्कायशुद्धिः । विमोकः कामानभिष्वङ्गः । अभ्यासः पुनः पुनरालम्बनसंशीलनम् । शक्तिः पञ्चमहायज्ञाद्यनुष्ठानं क्रिया । कल्याणानि सत्यार्जवदयादानार्हिसादीनि । अनवसादो दैन्याभावः । अनुद्धर्षस्तुष्ट्यभावः । अतिसंतोषश्च विरोधीत्यर्थः ।

एवं साधनसप्तकानुगृहीता भक्तिर्दर्शनसमानाकाराऽन्तिमप्रत्ययावधिका च भवति । स चान्तिमप्रत्यय एतच्छरीरावसाने शरीरान्तरावसाने वा भवति । वेदनध्यानोपासनादिशब्दवाच्या भक्तिः परभक्तिपरज्ञानपरमभक्तिरूपक्रमवती प्रपत्यङ्गका च । सा द्विविधा—साधनभक्तिफलभक्तिभेदात् । उक्तसाधनजन्या साधनभक्तिः । फलभक्तिस्त्वीश्वरकृपाजन्या श्रीपराङ्कुशनाथादिनिष्ठा । मद्भक्तजनवात्सल्यमित्यादिषु स्तुतिनमस्कारादिषु च

त्तस्य धारणा' (यो० सू० ३ । १) । ध्येयस्वरूपे देशे चित्तस्य बन्धो विषयान्तरपरिहारेण यत्स्थिरीकरणं सा चित्तस्य धारणेत्यर्थः । 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' (यो० सू० ३ । २) । तत्र ध्येयस्वरूपे प्रत्ययस्य ज्ञानस्यैकतानता तदालम्बनतयैव निरन्तरमुत्पत्तिर्ध्यानमित्यर्थः । 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' (यो० सू० ३ । ३) । सम्यगाधीयत एकाग्री क्रियते यत्र मनः स समाधिरिति । साधनसप्तकेति । अत्र विवेकादिषु कारणत्वं व्यासज्यवृत्ति न तु प्रत्येकपर्याप्तम् । जातीति । जातिदुष्टं कलञ्जगृञ्जनादि । आश्रयदुष्टं पतितादिस्वामिकम् । निमित्तदुष्टमुच्छिष्टादि । एतत्त्रिविषदोषरहितादन्नात्कायशुद्धिर्विवेक इत्यर्थः । आलम्बनेति । आलम्बनं शुभाश्रयस्तस्य संशीलनं पुनः पुनः परिशोधनम् । सत्येति । सत्यं भूतहितम् । आर्जनं वाक्कायानामैकलूप्यम् । दया स्वार्थनिरपेक्षपरदुःखासहिष्णुत्वम् । दानं लोभराहित्यम् । अहिंसा कायेन वाचा मनसा च परपीडानिवृत्तिः । आदिपदादनमिव्यासंग्रहः । अभिध्या परकीये स्वबुद्धिः । यद्वा निष्कलचिन्ता । अथवा परकृतापराधचिन्ता । तद्वाहित्यमनमिध्या । दैन्येति । दैन्यं चाभीष्टकार्यप्रवृत्त्यक्षमत्वम् । तच्च देशकालवैषम्याच्छो कवस्त्वाद्यनुस्मृतेश्च भवति ।

प्रपत्यङ्गकेति । प्रपत्यङ्गभूतेत्यर्थः । साधनभक्तिरिति । सा च व्यासादिनिष्ठा । श्रीपराङ्कुशनाथादीति । पराङ्कुशनाथश्चायं श्रीरामानुजाचार्यात्प्राचीन-

१ ख. 'तादुध्यद' । घ. 'ताददु' । २ घ. 'रमज्ञा' । ३ ख, 'रमा भक्तिरूपक्रिया कमवती प्रपत्यङ्गिका च । ४ ख. घ. 'न्या प' ।

भक्तिशब्दप्रयोग औपचारिकः । ननु वेदान्तेषु श्रवणमननयोरपि विधाना-
त्कथं ध्यानमेव विधीयत इति चेदुच्यते—अधीतसाङ्गवेदः पुरुषः प्रयोजन-
वदर्यावबोधित्वदर्शनात्तन्निर्णयाय स्वयमेव श्रवणे प्रवर्तत इति श्रवणस्य
प्राप्तत्वादानुवादः । श्रवणप्रतिष्ठार्थत्वान्मननस्याप्यनुवादः । तस्माद्ध्यानमेव
विधीयत इति न विरोधः ।

ध्यानशब्दवाच्या भक्तिर्विद्याभेदाद्बहुविधा । काश्चन विद्या उच्यन्ते—
अन्तरिक्षविद्या, अन्तरादित्यविद्या, दहरविद्या, भूमविद्या, सद्विद्या, मधु-
विद्या, उपकोसलविद्या, शाण्डिल्यविद्या, उद्गीथविद्या, पुरुषविद्या, प्रतर्दन-
विद्या, वैश्वानरविद्या, इत्यादिका ब्रह्मविद्या । न्यासविद्या प्रपत्तिः ।
प्रपत्तिर्नाम—

‘ आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।

रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा । आत्मनिक्षेपकार्पण्यम् ’
इत्याद्यङ्गपञ्चकयुक्ता । एतद्देहावसाने मोक्षप्रदा सकृत्कर्तव्या न्यासः
शरणागतिरित्यादिसंबन्धैश्च ज्ञानविशेषरूपं । एषा प्रपत्तिर्गुरुमुखाद्ब्रह्मस्यशा-
स्त्रेषु संप्रदायतया वेदितव्येतीह बालबोधनार्थं प्रवृत्ते ग्रन्थे न प्रकाशयेति
विरम्यते ।

तमस्ताम्रपर्णीतीरनिवासीति प्रासिद्धिः । वेदान्तेष्वेति । ‘ आत्मा वा अरे दृष्टव्यः
श्रोतव्यो मन्तव्यः ’ (वृ० २ । ४ । ९) इति श्रुतौ श्रवणमननयोर्विधिरस्तीति
शङ्काशयः । प्रयोजनवादिति । स्वाध्यायस्य स्वभावत एव प्रयोजनवदर्यावबोधि-
त्वदर्शनादित्यर्थः । श्रवणस्य प्राप्तत्वादिति । ननु पुस्तकनिरीक्षणादिव्यावृत्त्यर्थं
श्रोतव्य इति विधिः किं न स्यादिति चेन्न । वेदान्तवाक्यानामपि पुस्तकनिरीक्षणा-
दिव्युदासस्याव्ययनविधिसिद्धत्वात् । विलेखनपठनादिप्रतिषेधस्तु ब्रह्ममीनांसायाम-
निष्ठ एव । न च गुरुपसत्त्यर्थमयं विधिरस्त्विति वाच्यम् । गुरुपसत्तौ श्रवणशब्दस्य
मुख्यार्थत्वाभावात् । तस्याश्चात्राविहितत्वेऽपि ‘ गुरुमेवामिगच्छेत् ’ (मुं० १ ।
२ । १२) इति वाक्यान्तरसिद्धत्वाच्च । श्रवणप्रतिष्ठार्थत्वादिति । अचार्योपदि-
ष्टस्यार्थस्य स्वात्मन्येवमेव युक्तमिति हेतुतः प्रतिष्ठापनमेव मननतिति भावः । एतेन
मन्तव्य इत्यारम्भणसंश्लेषरूपमननविधिरयमित्यपास्तम् । श्रवणशब्दस्य न्यायोपे-
तवाक्यजन्यज्ञान इव मननशब्दस्य तत्प्रतिष्ठापनेऽर्थे प्रासिद्धिप्राचुर्यात् ।

एतद्देहावसान इति । न च प्रारब्धकर्मणोऽसमाप्तत्वे देहान्तरस्यापि प्रसङ्ग इति
वाच्यम् । प्रपत्तौ प्रारब्धस्यापि नाशाङ्गीकारात् । यथाऽऽहुः—

१ घ. 'न्ते श्र' । २ क. 'द्यान्यस' । ३ ख. 'ब्दवाच्या ह्य' । ४ घ. 'पा । प्र' । ५ क.
'प्रतिप' । ६ ख. 'वृत्तगुम्भे न' ।

भक्तिप्रपत्त्योरेव मोक्षसाधनत्वेन स्वीकारात्परोक्तोपायनिरासः । यथा वेदब्रह्मानां मध्ये केषांचिन्मते देहातिरिक्तात्मनोऽनङ्गीकारान्मोक्षे प्रवृत्तिरेव न संभवति । अन्येषां मते ज्ञानस्य क्षणिकत्वात्तस्यैवाऽऽत्मत्वात्कस्य प्रवृत्तिः । संतानस्येति चेन्न । अन्यं प्रत्यन्येन यत्नो न कर्तव्य इति न प्रवृत्तिः । अपरेषां मते धर्माधर्मादिसप्तभङ्गीरीत्याऽनैकान्तवादान्न प्रवृत्तिः । वैशेषिकादिपक्षे

साधनं भगवत्प्राप्तौ स एवेति स्थिरा मतिः ।

साध्यभक्तिस्तथा सैव प्रपत्तिरिति गीयते ॥

उपायो भक्तिरेवेति तत्प्राप्तौ या तु सा मतिः ।

उपायभक्तिरेतस्याः पूर्वोक्तैव गरीयसी ॥

उपायभक्तिः प्रारब्धव्यतिरिकाषणाशेना ।

साध्यभक्तिस्तु सा हन्त्री प्रारब्धस्यापि भूयसी ॥ इति ।

यद्यप्येवं प्रपत्तिः प्रारब्धमपि निःशेषं विनाशयितुं शक्ता तथाऽपि निःशेषवैराग्याभावे रागविषयमंशं तदनुबन्धि दुःखं च स्थापयति । निःशेषवैराग्ये तु निःशेषं निवर्तयति । अयमेव परमैकान्तनोर्द्वैतार्तयोर्भेद इत्याहुः ।

केषांचिन्मते । चार्वाकाणां मते । अन्येषाम् । विज्ञानवादिनां बौद्धानाम् । अपरेषाम् । जैनानाम् । सप्तभङ्गीरीत्येति । सप्तभङ्गाश्च स्याद्वादमञ्जर्या प्रतिपादिताः । तथा हि—एकत्र जीवादौ वस्तुन्येकैकसत्त्वादिधर्मविषयप्रश्रवशादविरोधेन प्रत्यक्षादिबाधापरिहारेण पृथग्भूतयोः समुदितयोश्च विधिनिषेधयोः पर्यालोचनया कृत्वा स्याच्छब्दशब्दितो वक्ष्यमाणैः सप्तभिः प्रकारैर्वचनविन्यासः सप्तभङ्गीति गीयते । तद्यथा—स्यादस्त्येव सर्वमिति विधिकल्पनया प्रथमो भङ्गः । स्यान्नास्त्येव सर्वमिति निषेधकल्पनया द्वितीयः । स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया तृतीयः । स्याद्वक्तव्यमेवेति युगपद्विधिनिषेधकल्पनया चतुर्थः । स्यादस्त्येव स्याद्वक्तव्यमेवेति विधिकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च पञ्चमः । स्यान्नास्त्येव स्याद्वक्तव्यमेवेति निषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च षष्ठः । स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्याद्वक्तव्यमेवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च सप्तमः । स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेणास्त्येव सर्वं कुम्भादि । न पुनः परद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेण । तथा हि—कुम्भो द्रव्यतः पार्थिवत्वेनास्ति नाबदिरूपत्वेन । क्षेत्रतः पाठलिपुत्रकत्वेन, न कान्यकुब्जादित्वेन । कालतः शिशिरत्वेन, न वासन्तिकत्वेन । भावतः श्यामत्वेन, न रक्तादित्वेन । अन्येतररूपापत्या स्वरूपहानिप्रसङ्ग इति । अवधारणं चात्र

पाषाणकल्पे मोक्षे प्रवृत्तिः कस्यापि न संभवति । सांख्यादिपक्षेष्वीश्वरान-
ङ्गीकारात्पुरुषस्य प्रकृतेर्वा मोक्ष इति संशयान्न प्रवृत्तिः । मायिमते व्यावहा-
रिकवाक्यस्य पारमार्थिकाभेदज्ञानाजनकत्वान्न प्रवृत्तिः । भास्करयादवयो-
स्तु कर्मज्ञानसमुच्चयवाहोऽप्युक्तादेव निरस्तः । शैवमते तु पशुपतेः प्राप्यत्व-
स्वीकाराद्देवविरुद्धभस्मधारणादेः साधनत्वेन स्वीकाराच्च तन्निरासः । एवं
मतिर्निरूपिता ।

इति श्रीवाधूलकुलतिलकश्रीमन्महाचार्यस्य प्रथमदासेन श्रीनिवास-
दासेन विरचितायां यतीन्द्रमतदीपिकायां बुद्धि-
निरूपणं नाम सप्तमोऽवतारः ॥ ७ ॥

====

भङ्गेऽनभिमतार्थव्यावृत्त्यर्थमुपात्तम् । इतरथाऽनभिमततुल्यतैवास्य प्रसज्येत । प्रतिनि-
यतस्वार्थानभिधानात् । तदुक्तम्—

वाक्येऽवधारणं तावदनिष्ठार्थनिवृत्तये ।

कर्तव्यमन्यथाऽनुक्तसमत्वात्तस्य कुत्रचित् ॥ इति ।

तथाऽप्यस्त्येव कुम्भ इत्येतावन्मात्रोपादाने कुम्भस्य स्तम्भाद्यस्तित्वेनापि सर्वप्रकारे-
णास्तित्वप्राप्तेः प्रतिनियतस्वरूपानुपपत्तिः स्यात् । तत्प्रतिपत्तये स्यादिति शब्द-
प्रयुज्यते । स्यात्कथंचित् । स्वद्रव्यादिभिरैवायमस्ति न परद्रव्यादिभिरपीत्यर्थः ।
यत्रापि चासौ न प्रयुज्यते तत्रापि व्यवच्छेदकत्वैवकारवद्बुद्धिमद्भिः प्रतीयत एव ।
यथोक्तम्—

सोऽप्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञैः सर्वत्रार्थात्प्रतीयते ।

यथैवकारोऽथोगादिव्यवच्छेदप्रयोजनः ॥ इति ।

तथा चैतन्मतेऽनैकान्तवादात्सर्वत्रानिश्चयान्न कापि प्रवृत्तिः स्यादित्याशयः ।
मायिमते । शंकराचार्यमते । व्यावहारिकवाक्यस्य । व्यावहारिकसत्यस्य वाक्य-
स्य । मायिमते हि ब्रह्मण एव पारमार्थिकसत्यत्वं नान्यस्य कस्यापीति तत्त्वमस्यादि-
वाक्यस्यापि व्यावहारिकसत्यत्वमेव । तथा च यथा प्रातिभासिकसर्वादेर्व्यावहारिकवि-
षाद्यजनकत्वं तथा व्यावहारिकवाक्यस्यापि पारमार्थिकज्ञानाजनकत्वमेव स्यादिति
भावः ।

इति श्रीयतीन्द्रमतदीपिकाप्रकाशे सप्तमोऽवतारः ॥ ७ ॥

====

अथाष्टमोऽवतारः ।

अथ जीवो निरूप्यते—प्रत्यक्त्वचेतनत्वात्मत्वकर्तृत्वादीर्नीश्वरजीवसाधारणानि लक्षणानि । प्रत्यक्त्वं नाम स्वयमेव स्वस्मै भासमानत्वम् । चेतनत्वं ज्ञानाश्रयत्वम् । आत्मत्वं शरीरप्रतिसंबन्धित्वम् । कर्तृत्वं संकल्पज्ञानाश्रयत्वम् । एवं सामान्यलक्षणलक्षितस्य विशेषलक्षणान्युच्यन्ते—अणुत्वे सति चेतनत्वम् । स्वतः शेषत्वे सति चेतनत्वम् । एवमाधेयत्वाविधेयत्वपराधीनकर्तृत्वपरतन्त्रत्वादिकमूह्यम् ।

स च देहेन्द्रियमनःप्राणादिभ्यो विलक्षणः । यथा मम शरीरमिति प्रतीत्या देहाव्यावृत्तः ।

अथाष्टमोऽवतारः ।

शेषत्वे सतीति । शेषत्वं च यथेष्टविनियोगार्हत्वम् । चेतनत्वमात्रोक्तावीश्वरेऽतिव्याप्तिः । शेषत्वमात्रोक्तावचित्पदार्थेष्वतिव्याप्तिरत उभयोपादानम् । जीवश्चायं परमात्मना स्वेच्छानुसारेण विनियुज्यत एवेति लक्षणसमन्वयः । आधेयत्वेति । आधेयत्वमाश्रितत्वम् । विधेयत्वं नियाम्यत्वम् ।

देहाव्यावृत्त इति । चार्वाकास्तु देह एवाऽऽत्मेति वदन्ति । अत एव स देहावधिकः । न तु देहोत्पत्तेः पूर्वं देहनाशानन्तरं वा तस्य स्थितिः । देहात्मवादे प्रमाणत्वहं जानामीति प्रत्ययः । ज्ञाता ह्यात्मा अहमाति चकास्ति । देहश्चाहंकारगोचरः । स्थूलोऽहं कृशोऽहमिति दर्शनात् । देहस्य हि स्थौल्यादियोगः । अतस्तत्समानाधिकरणतयाऽयमहंकारः शरीरालम्बन इत्यवश्याश्रयणीयम् । यद्यपि भौतिकेषु काष्ठलोष्टादिषु चैतन्यं नोपलभ्यते तथाऽपि भूतचतुष्टयसंघातात्मकदेहे चैतन्याविर्भावो नानुपपन्नः । यथा क्रमुकफलताम्बूलदलादिष्ववयवेषु प्रत्येकमविद्यमानोऽपि रागः संयोगविशेषादवयविन्याविर्भवति तद्वत् । परं त्वेतदरमणीयम् । इदं शरीरमिति शरीरविषयिणी मतिः परावृत्तिः । अहं जानामीति प्रत्यग्वृत्तिरहमिति मतिः । सा चेदंकारगोचराद्भिन्नमेव स्वविषयमुपस्थापयति । तदुक्तम्—

न खल्वहमिदंकारवेकस्यैकत्र वस्तुनि । इति ।

स्थूलोऽहमित्यादिस्तु लाक्षणिकः प्रयोगः । अत एव ममेदं गृहमितिवन्ममेदं शरीर-

चक्षुषा पश्यामि श्रोत्रेण शृणोमि वाचा वदामीत्यादिप्रत्ययाद्वाह्ये-
न्द्रियेभ्यो व्यावृत्तः । मनसा जानामीति मनसो ज्ञानकरणत्वप्रतीतेः,

मिति भेदप्रतिभासः । किंच चैतन्यमपि देहे नोपपद्यते । कार्यद्रव्यगतविशेषगुणानां
कारणगुणपूर्वकत्वात् । ताम्बूलादावपि चर्वणजनितहुतवहसंयोगसंपादितपाटलिमभिः पर-
माणुभिर्द्वर्चणकादिक्रमेण कारणगुणपूर्वक एव रागोदयः । किंचानुमानेनापि देहस्याना-
त्मत्वं सिध्यति । तथा चोक्तम्—

उत्पत्तिमत्त्वात्पाराध्यात्संनिवेशविशेषतः ।

रूपादिमत्त्वाद्भूतत्वाद्देहो नाऽऽत्मा घटादिवत् ॥

सच्छिद्रत्वाद्देहित्वाद्देहत्वान्मृतदेहवत् । इति ।

किंच देहात्मवादे जन्मान्तराभावेनाकृताभ्यागमकृतविप्रणाशदोषप्रसङ्गः । सन्ति
हि देहान्तरानुभात्यस्वर्गवाराज्यादिसाधनविधायिन्यः श्रुतयः । किंच जातमात्रो हि
जन्तुः स्तन्यादिवाळ्यायुक्तस्तदर्थप्रवृत्त्या निश्चीयते । तदवस्थस्य च रागादयो
जन्मान्तरीयसंस्कारोद्बोधमन्तरेण न युज्यन्त इति बोध्यम् ।

चक्षुषेति । इन्द्रियात्मवादिनामयमभिप्रायः—ज्ञानं हीन्द्रियव्यापारफलम् । अत-
स्तदिन्द्रियसमवाय्येव भवितुमर्हति । ज्ञानाश्रयत्वमेव च चेतनत्वमिति । किंत्वेतदयु-
क्तम् । चक्षुषा पश्यामीत्यादिप्रतीतिविरोधात् । तत्र हि द्रष्टृदिश्चक्षुरादिभ्यो भिन्न
एव प्रतीयते । किंचेन्द्रियाणां प्रत्येकं चेतनत्वं संभूय वा । नाऽऽद्यः । इन्द्रियान्तर-
दृष्टस्येन्द्रियान्तरेण प्रतिसंधानाभावप्रसङ्गात् । अस्ति च तत् ‘यमहमद्राक्षं तमहं
स्पृशामि’ इति । नान्त्यः । न हि पञ्चमिरिन्द्रियैः संभूयैकं वस्त्वनुभूयतेऽनुसंधीयते
वा । किंचैकेन्द्रियविगमे मरणप्रसङ्गः । तत्तदिन्द्रियापाये तदिन्द्रियार्थस्मरणानुपपत्तिश्च ।
तथा चान्धो रूपं न स्मरेत् । बाधिरः शब्दं न स्मरेत् । ज्ञानस्येन्द्रियव्यापारजन्यत्वेऽपि
शस्त्रादिव्यापारजन्मनः पापादेरिव परसमवायित्वं नानुपपन्नम् । मनसोति ।
किंच बाह्येन्द्रियेषु यथायथं स्वस्वविषयसंबद्धेष्वपि यतो न युगपत्सर्वे विषयाः प्रती-
यन्ते ततोऽवगच्छामः, अस्ति किंचिदपरमपि साधनं यत्साहाय्यकविरहात् सार्वे
विषया युगपत्प्रकाशन्ते किंतु कश्चिदेवैकः प्रतीयत इति मनसः करणत्वसिद्धिः ।
‘सुखादिसंवेदनानि करणवन्ति क्रियात्वात्, रूपादिज्ञानवत्’ इत्यनुमानमप्यत्र
प्रमाणम् । तदेवं ज्ञानकरणतयाऽवगतस्य मनसः कथमिव ज्ञाने कर्तृत्वम् ।
कर्तृत्वं हि स्वातन्त्र्यनियतम् । स्वातन्त्र्यं च स्वच्छन्दानुरोधेन साध्यसि-
द्ध्यनुगुणोपकरणसंपादनसामर्थ्यम् । करणत्वं तु पारतन्त्र्यनियतम् । पारत-
न्त्र्यं च पराधिष्ठानाधीनव्यापारत्वम् । ननु प्राण एवाऽऽत्मा । प्राणान्व-
यिनि शरीरे सात्मकत्वप्रतीतेस्तदनुवायिनि निरात्मकत्वप्रतीतेश्चेत्यत माह—

मम प्राणा इति व्यतिरेकोक्तेः, जानाम्यहमिति ज्ञानाच्च मनःप्राणज्ञानेभ्यो व्यावृत्तः ।

स चाणुपरिमाणः । उत्क्रान्त्यादेः श्रवणात्प्रमाणानुसाराच्च । अणुत्वे युग-पदनेकविषयानुभवः कथमिति न शङ्कनीयम् । धर्मभूतज्ञानव्याप्त्योपपत्तेः ।

मम प्राणा इति । किञ्च प्राणो नाऽऽत्मा वायुत्वाद्वाह्यवायुवत् । देहधारण-योग्यतारूपविशेषमापन्नो वायुरेव प्राणः । 'आपोमयः प्राणः' (छां० ६ । १ । ४) इति श्रुतिस्त्वाप्यायनपरा । तेजोमयी वागितिवत् । सुषुप्तौ वृत्तिहीनेऽप्यात्मनि प्राणस्य वृत्तिमत्त्वदर्शनाच्च न तस्याऽऽत्मत्वम् । प्राणवृत्त्यैव ह्यशितपीत-द्रव्यस्य सुषुप्तावपि सप्तधातुभावेन परिणामः श्वासप्रश्वासा च भवतः । ननु संविदेवाऽऽत्मा, अजडत्वादत आह—जानामीति । अजडत्वहेतुस्तु नाऽऽत्मत्वसाधक इत्यग्रे बौद्धमतखण्डने स्फुटी मविष्यति ।

ननु जीवात्मा विभुः । शरीरव्यापिसुखाद्युपलब्धेः । देशान्तरेऽपि तद्भोग्यवस्तुत्प-त्तेश्च । तत्र हि जीवादृष्टं कारणमिति तस्य तत्र संनिधानमपेक्ष्यते । कार्यकारणयोः सामानाधिकरण्यनियमात् । तच्चादृष्टमाश्रयमन्तरेण न संभवतीत्यगत्या जीवात्मनो विभुत्वमङ्गकार्यमिति चेत्तत्राऽऽह—स चेति । उत्क्रान्त्यादेरिति । तथा च 'उ-क्रान्तिगत्यागतीनाम्' (ब्र. सू. २।३।२०) इति सूत्रे भाष्यम्—उत्क्रान्तिस्ताव-च्छ्रूयते । 'तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्कामति चक्षुषो वा मूर्धनो वा अन्येभ्यो वा श-रीरदेशेभ्यः' (बृ. ४।४।२) इति । गतिरपि 'ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयान्ति चन्द्र-मसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' (कौ. १।२) इति । आगतिरपि 'तस्माल्लोकात्पुनरे-त्यास्मै लोकाय कर्मणे' (बृ. ४।४।६) इति । विभुत्वे ह्येता उत्क्रान्त्यादयो नोप-पद्येरन्निति । तथा—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।

भागो जीवः स विज्ञेयः स चाऽऽनन्त्याय कल्पते (श्वे. १।९) ।

'आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः' (श्वे. १।८) ।

स्वरूपमणुमात्रं स्याज्ज्ञानानन्दैकलक्षणम् ।

त्रसरेणुप्रमाणास्ते रश्मिकोटिविभूषिताः ॥

इत्यादिश्रुतिस्मृतयोऽप्यत्र प्रमाणतयाऽनुसंधेयाः । प्रमाणेति । हृत्प्रदेशावच्छिन्नो-पलम्भस्वारस्येन तादृशप्रमाणानुसारादित्यर्थः । युगपदिति । उशीरादिवासितस्वादु-शीतजलपानादौ युगपद्बन्धरसस्पर्शोपलम्भेन युगपदनेकेन्द्रियसंनिधानमात्मनोऽवश्यं वाच्यम् । तच्च विभुत्वमन्तरेण न संभवतीति शङ्काशयः । धर्मेति । यद्यपि जीवा-त्मनो न सर्वशरीरव्याप्तिस्तथाऽपि तद्धर्मस्य ज्ञानस्य सर्वशरीरव्याप्त्या युगपदनेक-विषयानुभवः सेत्स्यति । तथा च श्रुतिः—'प्रज्ञया घ्राणं समारुह्य घ्राणेन सर्वाङ्गन्धा-नाप्नोति । प्रज्ञया चक्षुः समारुह्य चक्षुषा सर्वाणि रूपाणि पश्यति' (कौ. ३।६) इत्यादिः । सूत्रकारैरपि 'गुणाद्वा लोकवत्' (ब्र. सू. २।३।२६) इति सूत्र

एतेनैव सौभरिप्रभृतीनां मुक्तानां च युगपदनेकशरीरपरिश्रमोऽपि संभवति ।
 स च नित्यः । पूर्वानुभूतार्थप्रतिसंधानार्थं । नित्यश्चेज्जीव उत्पन्नो जीवो
 नष्टो जीव इति प्रतीतिः कथमिति चेन्न । जीवस्य देहसंबन्ध उत्पत्तिस्तद्वि-
 योगो नाश इति प्रतिपादनाज्जीवस्वरूपं नित्यमेव ।

एवमेवोक्तम् । सर्वशरीरव्यापिसुखाद्युपलब्धिरपि ज्ञानद्वारैव बोध्या । 'स चाऽऽनन्त्या-
 यकल्पते' (श्वे. ९.९) इत्यत्रोक्तमानन्त्यमपि धर्मभूतज्ञानद्वारैव बोध्यम् । 'नित्यः
 सर्गगतः स्थाणुः' (गी. २।२४) इत्यत्रोक्तं सर्वगतत्वमप्येवमेव । धर्मभूतज्ञानद्वारा
 जीवात्मनः सूक्ष्मानुप्रवेशक्षमत्वात् ।

देहेन्द्रियमनःप्राणधीम्योऽन्योऽनन्यसाधनः ।

नित्यो व्यापी प्रतिक्षेत्रमात्मा भिन्नः स्वतः सुखी ॥ (आ. सि. पृ. ६)
 इत्युक्तं व्यापित्वमपि तथैव । यत्तु विष्णुपुराणे ' तस्याऽऽत्मपरदेहेषु सतोऽपि '
 (२ । १४ । ३१) इत्यत्र जीवात्मनोऽनेकदेहेषु सद्भावप्रतिपादनेन विभुत्वं
 सूच्यत इति । तन्न । जातिद्वारा तथा प्रतिपादनात् । एकस्य जीवात्मनोऽन्यस्मिन्दे-
 हेऽसत्त्वेऽपि तज्जातीयस्यान्यस्य सत्त्वात् । देशान्तरे भोग्यवस्तुत्पत्तिस्तु जीवात्मनोऽ-
 गुत्वेऽपि न विरुद्धा । जीवात्मकृतकर्मानिमित्तेश्वरप्रीतिकोपात्मकबुद्धेरेवाद्यष्टशब्दार्थ-
 त्वात् । ईश्वरस्य च विभुत्वेन तद्बुद्धेः सर्वकार्यसामानाधिकरण्यमव्याहृतमेव । एतच्च
 मूल एवानुपदं स्फुटी भविष्यति । न चाऽऽत्मनोऽगुत्वे पृथिव्याद्यणुवत्तस्य प्रत्यक्षत्वं
 न स्यादिति वाच्यम् । विभुत्वेऽपि तवाऽऽकाशादिविभ्वन्तरवदप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात् ।
 ' यथानुभवं स्वीकार्यमेव ' इति चेन्ममापि तुल्यम् । पृथिव्यादिपरमाणूनामप्रत्यक्षत्व-
 स्यास्माभिरनङ्गीकाराच्च । एतेनैवेति । योगिनां नानादेहाधिष्ठानमपि ज्ञानद्वारैवेत्या-
 शयः । मुक्तानां चेति । एतच्च 'प्रदीपवदावेशस्तथाहि दर्शयति' । (ब्र. सू. ४।४।१९)
 इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । एतेन " संसारदशायां स्वरूपज्ञानयोः संकोचादणुपरिमाण-
 मात्मस्वरूपम् । मोक्षदशायां तु सर्वगतं सर्वव्यापि स्वरूपं ज्ञानं च विस्तीर्णतया
 प्रकाशते । एतच्च ' स चाऽऽनन्त्याय कल्पते' (श्वे० ९।९) इति श्रुत्याऽवगम्यते ।
 पराशरेणापि—

' विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञारूपा तथा परा ' (वि० पु० ६।७।६१)

इत्यादिना संकोचविकासयोगित्वमुक्तम् " इति वरदविष्णुमिश्रोक्तमपास्तम् । धर्म-
 मूतज्ञानद्वारा तदुपपत्तेरुक्तत्वात् ।

पूर्वानुभूतेति । ' न जायते म्रियते ' (का. २।१८) ' ज्ञाज्ञौ द्वावजावी-
 शानीशौ ' (श्वे० १।९) इत्यादिश्रुतयोऽप्यत्र प्रमाणम् । किंच जीवानित्यत्वेऽकृ-
 ताभ्यागमकृतविप्रणाशरूपदोषद्वयप्रसङ्गः । जीवस्येति । ' प्रजापतिः प्रजा असृ-
 जत ' (तै. सं. ९।७।३) ' सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः ' (छा. ६।८।४) ' यतो

स च प्रतिशरीरं भिन्नः । एकपरिमाणेष्वनैकेषु सुवर्णघटेष्वेको घट इति

वा इमानि भूतानि जायन्ते (तै० ३।१।१)-‘जीवान्विससर्ज भूम्याम्’ (म.ना.१।४) इत्यादिश्रुतयोऽप्येतदभिप्रायेणैव योज्याः । ननु नित्यत्वे जीवात्मनां ‘सदेव सोम्ये-दमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्’ (छां. ६।२।१) इति श्रुतिप्रतिपादितं सृष्टेः प्रागे-कत्वावधारणं विरुध्यत इति चेन्न । नामरूपविभागाभाव एवैकत्वमिति तदाशयात् । एतेनाऽऽत्मानित्यत्ववादिनश्चत्वरोऽपि पक्षा निरस्ता वेदितव्याः । तथा हि —क्षणिकं आत्मेति विज्ञानात्मवादिनः । आशरीरस्थायीति प्राणेन्द्रियात्मवादिनः । प्रलयान्त इति पौराणिकैकदेशिनः । मोक्षाधिक इत्यौपनिषदाभासाः । तत्र प्रथम आत्मानमुत्तरकालानवस्थायिनं मन्यमानो न किञ्चिदुद्दिश्य प्रवर्तेत । प्रवृत्तिर्हि खलूत्तरकाले सुखं दुःखनिवृत्तिं वाऽभिसंधायैव । साऽत्र कथं घटेत । फलकाले स्वाभावात्स्वकाले फलाभावात् । द्वितीये तु पारलौकिकं फलमभिसंधाय यज्ञादौ प्रवृत्तिर्न स्यात् । सा च सार्वत्रिकी दृश्यते । तृतीये मोक्षमार्गोपदेशानर्थक्यम् । चतुर्थेऽप्यानर्थक्यमेव । तदुक्तम्—
अहमर्थविनाशश्चेन्नमोक्ष इत्यध्यवस्यति ।

अपसर्पेदसौ मोक्षकथाप्रस्तावगन्धतः ॥ इति ।

ननु ‘विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति’(बृ० २।४।१२) इति जीवविनाशः श्रूयते । भैवम् । अस्याः श्रुतेर्लोकधीरुढानुवादमात्रत्वात् ।

प्रतिशरीरमिति । सौभर्यादिक्षेत्रज्ञव्यतिरिक्तस्थल इति शेषः । भिन्न इति । अत एव कस्यचित्सुखित्वकालेऽन्यस्य दुःखित्वं दृश्यते । देहभेदस्तु न तन्निया-मकः । सौभरिशरीरे तददर्शनात् । न च देहभेदस्यानियामकत्वे जन्मान्तरानुभूतस्य कुतो न स्मृतिरिति वाच्यम् । संस्कारनाशेन तदुपपत्तेः । न च चैत्रेणानुभूते मैत्र-स्यास्मरणमात्मैक्येऽपि संस्कारनाशादेवेति वाच्यम् । तथा सति चैत्रस्याप्यस्मरणप्रस-ङ्गात् । किञ्च सुखदुःखयोरेकाश्रयत्व उभयप्रतिसंधानमेकस्यैव स्यात् । कश्चिद्बुद्धः कश्चिन्मुक्तः कश्चिच्छिष्यः कश्चिदाचार्य इत्यादिव्यवस्था च न सिध्येत् । देवमनुष्यति-र्यगादिभेदेन विषमसृष्टिश्च नोपपद्येत । कर्मभेदेन तु न विषमा सृष्टिः । जीवैक्यप्रक्षे-हि कस्य कर्म कस्माद्भिन्नमुच्यते । इदं कर्मासुक्तस्येति व्यवस्थाया असंभवात् । एव-मेवान्तःकरणभेदस्याप्यनियामकत्वं द्रष्टव्यम् । प्रयोगश्च—चैत्रात्मा मैत्रतादात्म्य-रहितः । तदनुभवजस्मृत्यनाधारकत्वात्कदाचिदपि तद्गतसुखादिप्रतिसंधानरहितत्वाद्वा । ‘नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूना यो विदधाति कामान्’ (का. ९।१३) इत्यादिश्रुतिरपि जीवानेकत्वे प्रमाणम् । नन्विदं श्रुतिरौपाधिकभेदाभिवायिनी । अत एव ‘मोक्ता भोग्यम्’ (श्वे० १ । १२) इत्यादिभिर्जीवैकत्वप्रतिपादिकाभिः श्रुति-भिरविरोध इति चेत्तत्राऽऽह—एकपरिमाणेष्विति । एको ब्रीहिरिति । एको ब्रीहिः

प्रतीतिवद्ब्रीहिराशावेको ब्रीहिरितिवच्च ज्ञानैकाकारतयैकत्वव्यवहारः । न तु स्वरूपैक्यम् । प्रमाणविरोधात् ।

स्वतः सुखी । उपाधिवशात्संसारः । अयं च कर्ता भोक्ता शरीरी शरीरं च भवति । प्रकृत्यपेक्षया शरीरी । ईश्वरापेक्षया शरीरम् । तस्य प्रत्यक्षश्रुतिभ्यां

सुनिष्पन्नः सुपुष्टं कुरुते जनमित्यादौ यथा । रामसुग्रीवयोरैक्यमित्यत्राप्येवमेव । तयोः प्रकारस्यैक्यात् । ज्ञानैकाकारतयेति । इयदेवाहि जीवाद्वैतम् । जीवाद्वैतशब्दस्य प्रकाराद्वैते तात्पर्यात् । जीवानामनेकत्वेऽपि तेषां प्रकारस्यैक्यात् । 'नानात्मानो व्यवस्थातः' इति न्यायसूत्रेऽपि जीवानेकत्वमेव स्थापितम् । सांख्यैरप्युक्तम्—

जननमननकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।

पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ' (सां० कां १८) इति ।

तथा च जीवभेदनिषेधवचनानि प्रामाणिकस्वरूपभेदव्यतिरिक्तदेहात्माभिमाननिबन्धनदेवत्वादिभेदनिषेधपराणीत्युक्तं न्यायासिद्धाज्जने । एवं जीवानां परस्परं भेदे सिद्धे जीवब्रह्मभेदोऽपि सिध्यति । 'नेह नाना' (वृ० ४ । ४ । १९) इत्यादिश्रुतयस्तु सर्वस्य ब्रह्मशरीरत्वेन ब्रह्मशरीरव्यतिरिक्तवस्त्वन्तरनिषेधार्थिकाः । एतदेव हि ब्रह्माद्वैतम् । तस्य प्रकाशद्वैते तात्पर्यात् । ब्रह्मशरीरभूतानां प्रकाराणां जीवानामनेकत्वेऽपि तेषां सर्वेषामात्मभूतस्य प्रकारिणो ब्रह्मण ऐक्यात् । मुक्तावपि न जीवब्रह्मणोरैक्यम् । 'सदा पश्यन्ति सूरयः' (नृ० पू० ९ । १०) इत्युक्तेः । किंतु साम्यमात्रम् । 'मम साधर्म्यमागताः । (गी० १४ । २) इति भगवतैवोक्तत्वात् ।

स्वतः सुखीति । तदुक्तमात्मसिद्धौ—

नित्यो व्यापी प्रतिकेवमात्मा भिन्नः स्वतः सुखी ॥ इति ।

उपाधिवशादिति । अनादिकर्मरूपाविद्याकृताचित्संसर्गादित्यर्थः । उपाधिर्लिङ्गदेहः प्रकृत्यात्मकोऽनादिरिति मान्याः । कर्तेति । तथा च श्रुतिः—'कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' (प्र. ४ । ९) इति । अत एव 'यजेत स्वर्गकामः' 'ब्रह्मेत्युपासीत' (छां. ३ । १८ । १) इत्यादिशास्त्राणामर्थवत्त्वम् । बोद्धुरेव हि ज्ञासनं नाचेतनस्य प्रधानादेः । इदं च 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' (ब्र. सू. २ । ३ । ३३) इत्यधिकरणे स्पष्टम् । यत्तु—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥

(गी. ३ । २७) इति गुणानामेव कर्तृत्वं स्मर्यत इति । तत्सांसारिकप्रवृत्तिष्वस्य कर्तृता सत्त्वरजस्तमोगुणसंसर्गकृता न स्वरूपप्रयुक्तेत्याशयेन । एवमात्मनः कर्तृत्वे सिद्धे तन्मूलकं भोक्तृत्वमपि तस्यैवेत्याह—भोक्तेति । प्रकृत्यपेक्षयेति । प्रकृतिविकारभूतपाञ्चभौतिकशरीरापेक्षयेत्यर्थः । ईश्वरेति । 'यस्याऽऽत्मा शरीरम्' (वृ. ३ । ७ । ३)

स्वयंप्रकाशत्वं च सिद्धम् । प्रयोगश्च—आत्मा स्वयंप्रकाशः, ज्ञानत्वाद्धर्म-
भूतज्ञानवदिति । ज्ञानानुत्त्वामलत्वादय एतस्य स्वरूपनिरूपकधर्माः ।

एतेन ज्ञानस्य क्षणिकत्वं क्षणिकसंतानरूप आत्मेति बौद्धपक्षः, भूतचतुष्ट-
यात्मकत्वाद्देहस्य देहावधिक आत्मेति चार्वाकपक्षः, गजदेहे गजपरिमाणः

इति श्रुतेः । सिद्धमिति । स्वस्य चास्य स्वयंप्रकाशत्वम् । परस्य तु तज्ज्ञानविषय-
तयैव प्रकाशते । स्वस्यापि प्रमाणान्तरावसेयानुत्वशेषत्वनियाम्यत्वनित्यत्वादिवि-
शिष्टरूपेण ज्ञानविषयत्वमस्त्येव । अहमिति प्रत्यक्त्वैकत्वविशिष्टतया तु स्वप्रकाशता
सर्वदा । योगदशायां तु यथावस्थितापूर्वाकारविशिष्टतया यौगिकप्रत्यक्षेण साक्षा-
त्क्रियते । तदुक्तमात्मसिद्धौ—

‘ योगाभ्यासमुवा स्पष्टं प्रत्यक्षेण प्रकाशयते । इति ।

‘ अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति ’ (बृ. ४ । ३ । ९) ‘ कतम आत्मा योऽयं
विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः ’ (बृ० ४ । ३ । ७) इत्यादिश्रुतिभि-
श्चाऽऽत्मनः स्वयंप्रकाशत्वं सिध्यति । यद्यपि ‘ हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः ’ इत्यत्र
ज्योतिःशब्दो भाक्तस्तथाऽपि स्वप्रकाशप्रदीपादिवल्लोकदृष्ट्याऽन्यनिरपेक्षत्वं स्वरसा-
वगतं न बाध्यम् । स्वयंप्रकाशत्वमनन्याधीनप्रकाशत्वम् । इदमेवाजडत्वम् ।

ज्ञानस्येति । इत्थं हि बौद्धमतम्—संविदः स्वयंप्रकाशत्वात्तस्या एवाऽऽत्मत्वम् ।
किंच यः संविदोऽन्यं संवेदितारमभ्युपगच्छति, अभ्युपगच्छत्येवासौ संविदम् । नह्य-
सत्यामेव संविदि संवेत्तीत्युपपद्यते । एवं चेदुभयवासंप्रतिपन्नतया सैव परं
वेदित्री लाघवाद्भवतु किमन्येन कल्पितेन । तस्मादनाद्यंविद्यावशात्समारोपितावास्तवप्रा-
ह्यग्राहकविकल्पोल्लेखिनी स्वयंप्रकाशा संविदेव परमार्थसती सैव चाऽऽमेति । परं
त्वेतदयुक्तम् । स्वयंप्रकाशत्वं हि नाऽऽत्मत्वस्य व्याप्यम् । किंतु व्यापकम् ।
लाघवमप्यप्रयोजकम् । ‘ न विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते ’ [बृ० ४ । ३ ।
१०) इति श्रुतौ संवित्तद्वतोः पृथग्दर्शनात् । तदुक्तं तत्त्वमुक्ताकलापे—

‘ नित्या सा यस्य तद्वानपि निगममिती गौरवं नास्य मारः ’ (२।४) इति ।

किंच संविद आत्मत्वे पूर्वद्युर्दृष्टमपरेद्युरहमिदमदर्शमिति कथमिव प्रत्याभिजानीयात् ।
न च संवित्संतानाश्रयणेन प्रत्यभिज्ञोपपद्यत इति वाच्यम् । संविद्यतिरिक्तस्य
स्थायिनोऽनुसंधायिनः संतानस्याभ्युपगमे स्वसिद्धान्तत्यागः । अनभ्युपगमे प्रत्य-
भिज्ञानुपपत्तिस्तदवस्था । न ह्यन्येनानुमूतेऽन्यस्य प्रतिसंधानसंभवः ।

भूतोति । प्रागुपपादितम् । गजदेह इति । एतदपि मतमयुक्तम् । बृहतः शरीरा-
दल्पीयसि शरीरे प्रविशतोऽपरिपूर्णत्वप्रसङ्गात् । विकारत्वप्रयुक्तानित्यत्वादिदोषप्रस-

पिपीलिकादेहे तत्परिमाणोऽतो देहपरिमाण आत्मेति जैनपक्षः, कर्तृत्वभोक्तृ-
त्वादिकं प्रकृतेरेव न तु पुरुषस्येति सांख्यपक्षः, ब्रह्मांशो जीव इति यादवपक्षः,
सोपाधिकब्रह्मखण्डो जीव इति भास्करपक्षः, अविद्यापरिकल्पित एकजीव-

ङ्गश्च । किंचैककालेऽनेकेदेहान्परिगृह्णतां सौभारिप्रभृतीनां स्वस्वरूपमनेकधा कृत्वा
तत्तद्देहपरिग्रहप्रसङ्गः । किंच परकायप्रवेशद्वाराऽनेकशरीराणि परिगृह्णतां योगिनां
स्वरूपस्य स्थूलशरीरं त्यक्त्वा ततः सूक्ष्मशरीरपरिग्रहसमये तस्य सर्वस्यावकाशाभा-
वाच्छैथिल्यं स्यात् । एतच्च ' नैकस्मिन्नसंभवात् ' (ब्र० सू० २ । २ । ३२)
इत्याधिकरणे स्पष्टम् । कर्तृत्वेति । एतच्चानुपदमेवोपपादितम् (पृ० ७२ पं० २३) ।
ब्रह्मांश इति । यादवमते भास्करमते च ब्रह्मणः सगुणत्वाङ्गीकारस्तस्य एव ।
तथैव प्रपञ्चस्य सत्यत्वमपि । अत एव बन्धमोक्षव्यवस्था सिध्यति । इयांस्तु विशेषः ।
भास्करमते तत्त्वमसीति श्रुतेर्जीवब्रह्मणोरभेदः स्वाभाविकः । भेदस्त्वौपाधिको देवमनु-
ष्यादिकृतः । अचिद्ब्रह्मणोस्तु भेदः स्वाभाविकः । ' निर्मलम् ' (ब्र० विं० २१)
इत्यादिश्रुतेः । अभेदोऽपि च तयोः स्वाभाविक एव । ' इदं सर्वं यदयमात्मा '
(वृ० २ । ४ । ९) इत्यादिश्रुतेः । न चाचिद्ब्रह्मणोर्भेद औपाधिक इति वाच्यम् ।
' उपाधेरचित्स्वन्तर्भावात् । ' उपाधि ब्रह्म ' एतदुभयभेदस्याप्यौपाधिकत्वेनोपाध्यन्तरा-
पेक्षायामनवस्थाप्रसङ्गात् । यादवमते तु, अचिद्ब्रह्मणोरिव जीवब्रह्मणोरपि भेदाभेदौ
स्वामाविकौ । मुक्तावपि भेदश्रुतेस्तत्त्वमसीत्यैक्योपदेशाच्चेति । परं त्वेतन्न युक्तम् ।
तत्र भास्करमते उपाधिब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वन्तरानभ्युपगमाद्ब्रह्मण्येवोपाधिसंसर्गादौपा-
धिकाः सर्वे दोषा ब्रह्मण्येव स्युः । ततश्च ' अपहतपाप्मा ' (छां० ८ । ७ । १)
इत्यादिश्रुतिविरोधः । यादवमतेऽपि जीवब्रह्मणोर्भेदवदभेदस्याप्यभ्युपगमाद्ब्रह्म स्वरू-
पेणैव सुरनरातिर्यक्स्थावरादिभेदेनावस्थितमिति ब्रह्मणो जीवभावेन सर्वे जीवगता दोषा
ब्रह्मण एव स्युः । विस्तरस्तु वेदार्थसंग्रहादवसेयः । अविद्योति । अयं शांकरपक्षः ।
तत्र ह्यविद्याशबलं ब्रह्मैव जीवः । स च सर्वशरीरेष्वेकः । चैत्रानुभूते भैत्रस्याननु-
संधानं त्वविद्यावैचित्र्यात् । अत एव जीवैक्यवाद उपपद्यते । तथा ' ज्ञानिनो मित्रा-
मित्रकथा कुतः ' ' यच्चन्योऽस्ति परः कोऽपि ' (वि० पु० २ । १३ । ८९) ' एक एव हि
भूतात्मा ' (ब्र० विं० १२) ' घटध्वंसे घटाकाशो न भिन्नो नमसा यथा ' इत्यादि संग-
च्छत इति । एतदपि न सम्यक् । ' पृथगात्मानम् ' इत्यादिश्रुतिषु जीवब्रह्मणो-
र्निरुपाधिकभेदप्रतिपादनात् । आश्रयानुपपत्त्यादिसप्तविधानुपपत्तिग्रस्तत्वेनाविद्याया
निरूपयितुमशक्यत्वाच्च । सप्तविधानुपपत्तयस्तु श्रीभाष्यादौ द्रष्टव्याः । जीवै-
क्यवादस्तु साजात्यादेव । ' पाण्डिताः समदर्शिनः ' (गी० ९ । १८)
इत्यादिस्मृतिभिर्जीवानां सम्यक्त्वनात् । ' मित्रामित्रकथा कुतः ' इति तु न

वादपक्षः, अन्तःकरणावच्छिन्नानेकजीववादपक्ष इत्येवमाद्यो विरुद्धपक्षा
निरस्ताः । विभुत्ववादपक्षोऽपि ।

ननु जीवस्य विभुत्वानङ्गीकारेऽदृष्टजनितदेशान्तरफलोपलब्धिः कथमिति
चेन्न । जीवस्य संबन्धाभावेऽप्यदृष्टवशादेवोपपत्तेः । अदृष्टं नाम भगवत्भीत्य-
प्रीतिजनकजीवकर्तृककर्मविशेषजन्यो ज्ञानविशेषः । स विशेषो भगवत्संकल्प
एव विभुस्वरूपं भगवन्तमाश्रितः । अतः फलोपलब्धिरिति न विरोधः ।

स जीवस्त्रिविधः—ब्रह्मगुक्तनित्यभेदात् । तत्र ब्रह्मा नामानिवृत्तसंसारः ।
ते चतुर्दशभुवनात्मकाण्डकटाहवर्तिनो ब्रह्मादिकीटपर्यन्ताश्चेतनविशेषाः । श्रीम-
न्नारायणनाभिकमलादुत्पन्नो ब्रह्मा । ब्रह्मणो रुद्रः । पुनर्ब्रह्मणः सनकादयो
योगिनो नारदादिदेवर्षयो वसिष्ठभृगवादिब्रह्मर्षयः पुलस्त्यमरीचिदक्षकश्य-
पादयो नव प्रजापतयो बभूवुः । तेभ्यो देवा दिक्पालाश्चतुर्दशेन्द्राश्चतुर्दश
मनवोऽसुराः पितरः सिद्धगन्धर्वाकिनरकिंपुरुषविद्याधरादयो वसवो रुद्रा
आदित्या अश्विनौ च दानवैयक्षराक्षसपिशाचगुह्यकादवः । एवं देवयोनयः ।
मनुष्या अपि ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रादिजातिभेदाद्बहुविधाः । तिर्यञ्चोऽपि
पशुमृगपक्षिसरीसृपपतङ्गकीटादिभेदाद्बहुविधाः । स्थावरा अपि वृक्षगुल्म-
लतावीरुत्तृणादिभेदाद्बहुविधाः । वृक्षादीनां जलाहरणोपयुक्तीकिंचिज्ज्ञानसंब-

जीवैक्याभिप्रायम् । किंतु रागद्वेषामावाभिप्रायम् । 'यद्यन्योऽस्ति' (वि० पु० २ ।
१३ । ८९) इत्यत्रान्यशब्दोऽन्यादृश इत्यर्थकः । 'एक एव हि भूतात्मा' (ब्र०
वि० १२) इत्यैक्यमपि भूतसंसर्गशङ्कितवृद्धिहासनिषेधाभिप्रायम् । 'घटध्वंसे'
इत्यादिकं त्वौपाधिकवैषम्यनिवृत्तावत्यन्तसाम्यं व्यनक्ति । न हि घटध्वंसे घटावच्छिन्न
आकाशांशोऽशान्तरेणैकी भवति । अन्तःकरणोति । अयं पक्षः शांकरमतानुयायिनः ।
तदुक्तं वेदान्तपरिभाषायाम्—जीवो नामान्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यमिति । तस्य
नानात्वमपि तत्रैव स्पष्टम् । अयमपि पक्षो न रमणीयः । कल्पान्तरेऽनुभूतस्य
कल्पान्तरेऽनुसंधानानापत्तेः । अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यस्य जीवत्वे जीवत्वस्यान्तः-
करणचैतन्य—एतदुभयसमुदायवृत्तित्वेनान्तःकरणभेदे जीवभेदस्य दुर्वारत्वात् । अस्ति
हि कल्पभेदे चेतोभेदः । सन्ति च कल्पादौ जातिस्मराः स्वयमागतविज्ञाना इति
बोध्यम् ।

नन्विति । एतच्चोपपादितं प्रागणुत्वसमर्थने (पृ० ६९ पं० १२) ।

गुल्मेति । गुल्मा अनतिदीर्घनिबिडलता मालत्यादयः । लता दीर्घयायिन्यो द्रा-
क्षातिमुक्ताप्रभृतयः । वीरुवाश्छिन्ना अपि या विविधं प्ररोहन्ति ता गुडूवीप्रभृतयः ।

स्थोऽस्त्येव । अप्राणिमत्सु स्वल्पा सेत्युक्तत्वात् । अतो देवमनुष्यतिर्यक्स्था-
वरभेदाभिन्ना वद्धाः । जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजाश्च भवन्ति । देवमनुष्या
जरायुजाः । तेषु ब्रह्मरुद्रादयः सनकादयश्च सीताद्रौपदीधृष्टद्युम्नादयो भूतवे-
तालादयाश्चायोनिजाः । तिर्यगादयश्च जरायुजा अण्डजाः स्वेदजाश्च भवन्ति ।
स्थावरादय उद्भिज्जाः । एवंभूता वद्धा बीजाङ्कुरन्यायेन विषमप्रवाहतयाऽ-
नादिकालप्रवृत्ताविद्याकर्मवासनारुचिप्रकृतिसंबन्धैश्चक्रवत्परिवर्तमानैर्गर्भज-
न्मबाल्ययौवनजाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्च्छाजरामरणस्वर्गनरकगमनादिविविधविचि-
त्रावस्थावन्तोऽनाद्यनन्तप्रकारातिदुःसहतापत्रयाभितप्ताः स्वतःप्राप्तभगवदनु-
भवविच्छेदवन्तश्चेति ।

ते द्विविधाः—शास्त्रवश्यास्तदवश्याश्चेति । तयोर्मध्ये करणायत्तज्ञानानां
वद्धानां शास्त्रवश्यताऽस्ति । तिर्यक्स्थावरादीनां तन्नास्ति । शास्त्रवश्या द्विवि-
धाः । बुभुक्षवो मुमुक्षवश्चेति । तत्र बुभुक्षवस्त्रैवर्गिकपुरुषार्थनिष्ठाः पुरुषाः । ते
द्विविधाः—अर्थकामपरा धर्मपराश्चेति । केवलार्थकामपरा देहात्माभिमानवन्तः ।
धर्मपराश्च ' अलौकिकश्रेयःसाधनं धर्मः ' ' चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ' इति-
लक्षणलक्षितयज्ञदानतपस्तीर्थयात्रादिनिष्ठाः । ते च देहातिरिक्तात्मनः पर-
लोकोऽस्तीति ज्ञानवन्तः । धर्मपरा द्विविधाः—देवतान्तरपरा भगवत्पराश्चेति ।
देवतान्तरपरा ब्रह्मरुद्रेन्द्राग्न्वाद्याराधनपराः । भगवत्पराश्चाऽऽतो जिज्ञासुरर्था
र्थान्युक्तीत्याऽधिकारिणः । आतो अष्टैश्वर्यकामः । अर्थार्थो त्वपूर्वैश्वर्यकामः ।

मुमुक्षवो द्विविधाः—कैवल्यपरा मोक्षपराश्चेति । कैवल्यं नाम ज्ञानयोगात्प्र-
कृतिवियुक्तस्वात्मानुभवरूपोऽनुभवः । अर्चिरादिमार्गेण परमपदं गत एव
क्वचित्कोणे पतित्यैक्तपत्नीन्यायेन भगवदनुभवव्यतिरिक्तस्वात्मानुभव इत्या-
हुः । केचिदर्चिरादिमार्गेण गतस्य पुनरावृत्त्यश्रवणात्प्रकृतिमण्डल एव
क्वचिद्देशे स्वात्मानुभव इत्यप्याहुः । मोक्षपराश्च द्विविधाः—भक्ताः प्रपन्नाश्चेति ।
भक्ताः पुनरधीतसाङ्गसशिरस्कवेदाः पूर्वोत्तरमीमांसापरिचयाच्चिददच्चिदि-
लक्षणमनवधिकातिशयानन्दस्वरूपं निखिलहेयमत्यनीकं समस्तकल्याणगुणा-
त्मकं ब्रह्मावधार्य तत्प्राप्त्युपायभूतां साङ्गभक्तिं स्वीकृत्य तथा मोक्षं प्राप्तु-
कामाः । भक्तावधिकारस्त्रैवर्णिकानामेव । देवादीनामप्यस्ति । अर्थित्वसामर्थ्ययोः

अथवा वृक्षेभ्यो न्यूनपरिमाणा उद्भिज्जा गुल्माः कुरवकादयः । लता वलयः ।
बीजाण्डप्ररोहिण्यो वीरुधः । स्वल्पा सेति । अत्र सेत्यनेन संवित्परा मृश्यते ।

१ क. णिषु स्वल्पांशेत्यु° । २ घ. °श्च द्रौ° । ३ घ. °द्वा जीवा वी° । ४ घ. °जागरस्वप्न° ।
५ घ. °न्तश्च । ते° । ६ घ. °ता । ति° । ७ ग. °ते च द्वि° । ८ क. °तिवर्मल° । ९ घ. °रुद्रा-
वन्मा° । १० घ. °त्युक्ताधि° । ११ ख. °जुहु° । १२ घ. °तित ल्यक° । १३ ख. रिक्तास्ती° ।

संभवात् । न शूद्राधिकारः । अपशूद्राधिकरणविरोधात् । भक्तिस्वरूपं तु बुद्धिपरिच्छेदे प्रतिपादितम् । भक्ता द्विविधाः—साधनभक्तिनिष्ठा साध्य-भक्तिनिष्ठाश्चेति । व्यासादयः साधनभक्तिनिष्ठाः । श्रीपराङ्मुखादयः साध्य-भक्तिनिष्ठाः ।

आर्किचन्यानन्यगतिकत्वधर्मविशिष्टो भगवन्तमाश्रितः प्रपन्नः । सोऽपि द्विविधः—त्रैवर्गिकपरो मोक्षपरश्चेति । त्रैवर्गिकपरो नाम भगवत एव धर्मार्थ-कामाभिलाषी । मोक्षपरस्तु सत्सङ्गान्नित्यानित्यविवेके सति संसारे निर्वेदा-द्वैराग्य उत्पन्ने मोक्षेच्छायां जातायां तत्सिद्धयर्थमाचार्यो वेदसंपन्न इत्याद्या-चार्यलक्षणलक्षितं गुरुं संश्रित्व तद्द्वारा पुरुषकारभूतां श्रियं प्रतिपद्य भ-क्त्याद्युपायान्तरेऽशक्तोऽत एवार्किचन्यानन्यगतिः श्रीमन्नारायणचरणावेवो-पायत्वेन यः स्वी करोति स प्रपन्नः । प्रपत्तिः सर्वाधिकारा ।

स च प्रपन्नो द्विविधः—एकान्ती परमैकान्ती चेति । यो मोक्षफलेन साकं फलान्तराप्यपि भगवत एवेच्छति स एकान्ती । देवतान्तरशून्य इत्यर्थः । भक्तिज्ञानाभ्यामन्यत्फलं भगवतोऽपि यो नेच्छति स परमैकान्ती । स द्विविधः—दृप्त आर्तश्चेति भेदात् । अवश्यमनुभोक्तव्यमिति प्रारब्धकर्मानु-भवश्रेतद्देहावसानसमयमीक्षमाणो दृप्तः । जाज्वल्यमानाग्निमध्यास्थितस्येव संसारावस्थितेरतिदुःसहत्वात्प्रपत्त्युत्तरक्षणमोक्षकाम आर्तः ।

मुक्तो नामोपायपरिग्रहानन्तरं नित्यनैमित्तिकभगवदाज्ञाकैर्यरूपाणि स्वयं प्रयोजनतया कुर्वन्भगवद्भागवतापराधांश्च वर्जयन्देहावसानकाले सुकृतदुष्कृते मित्रामित्रयोर्निक्षिपन्वाङ्मनसतीत्यादिप्रकारेण हार्दे परमात्मानि विश्रम्य मुक्तिद्वारभूतसुषुम्नाख्यनाड्यां प्रविश्य ब्रह्मरन्ध्रान्निष्क्रम्य हार्देन साकं सूर्यकिरणद्वाराऽग्निलोकं गत्वा दिनपूर्वपक्षोत्तरायणसंवत्सराभिमानिदेवता-भिर्वायुना च पथि सत्कृतः सूर्यमण्डलं भित्त्वा नभोरन्ध्रद्वारा सूर्यलोकं गत्वाऽनन्तरं चन्द्रविद्युद्गुरुणेन्द्रप्रजापतिभिर्मार्गप्रदर्शिभिरातिवाहिकगणैः सोप-चारैः सह तत्तल्लोकानतीत्य प्रकृतिवैकुण्ठसीमापरिच्छेदिकां विरजां तीर्त्वा सूक्ष्मशरीरं विहायामानवकरस्पर्शादिप्राकृतादिव्यविग्रहयुक्तश्चतुर्भुजो ब्रह्मा-लंकारेणालंकृत इन्द्रप्रजापतिसंज्ञकनगरद्वारपालकाभ्यनुज्ञया श्रीवैकुण्ठाख्यं

सर्वाधिकारेति । अत्र शूद्रादीनामप्याधिकारः ।

१ क. °अकिञ्चनान° । २ क. घ. °रेणाश° । ३ ग. घ. °ति । अ° । ४ घ. °श्यमेव भो° । ५ घ. °प्रहृष्टान° । ६ क. °नाड्या प्र° । ७ घ. °र्गद° । ८ ख. घ. °सीमप° । ९ घ. °तवि° । १० ख. °तुर्मुखो ब्र° । ११ क. घ. °कानभ्यनुज्ञाप्य श्री° ।

दिव्यनगरं प्रविश्य गरुडानन्तयुक्तपदाकालं कृतदीर्घप्राकारसहितगोपुरमतीत्यै-
रमदाख्यामृतसरः सोमसवनाख्याश्वत्थं च दृष्ट्वा अतं मालाहस्तेत्युक्तं पञ्चशतदि-
व्याप्सरोगणैरुपचारितो ब्रह्मगन्धादिभिरलंकृतस्तत्रस्थाननन्तगरुडविष्वक्से-
नादीन्प्रणम्य तैर्वहुमतो महामणिमण्डपमासाद्य पर्यङ्कसमीपे स्वाचार्यान्प्रण-
म्य पर्यङ्कसमीपं गत्वा धर्मादिपीठोपरिक्रमलेऽनन्ते विमलादिभिश्चामरहस्ताभिः
सेव्यमानं श्रीभूलीलासमेतं शङ्खचक्रादिदिव्यायुधोपेतं जाज्वल्यमानकिरीट-
मकरकुण्डलग्रैवेयहारकेयूरकटकश्रीवत्सकौस्तुभमुक्तादामोदरवन्धनपीताम्बर-
काञ्चीगुणनूपुराद्यपरिमितादिव्यभूषणभूषितमपरिमितोदारकल्याणगुणसागरं
भगवन्तं दृष्ट्वा तत्पादारविन्दयुगुले शिरसा प्रणम्य पादेन पर्यङ्कमारुह्य तेन
स्वाङ्के स्थापितः कोऽसीति पृष्ठो ब्रह्मप्रकारोऽस्मीत्युक्त्वा तेन कटाक्षितस्त-
दनुभवजनितहर्षप्रकर्षात्सर्वदेशसर्वकालसर्वावस्थोचितसर्वविधकैर्कथरतिरावि-
र्भूतगुणाष्टक उत्तरावधिरहितब्रह्मानुभववान्यः स मुक्त इत्युच्यते । मुक्तस्य
ब्रह्मसाम्यापत्तिस्तु भोगसाम्यमाह । जगद्व्यापारवर्जनस्य प्रतिपादनात् ।
तस्य नानात्वं सर्वलोकसंचरणं च संभवति । ननु मुक्तस्यानावृत्तित्वप्रति-
पादनादस्मिँल्लोके संचारः कथमिति न शङ्कनीयम् । कर्मकर्तृत्वस्यैव निषे-
धात्स्वेच्छया संचरणोपपत्तेः । अतो मुक्तो भगवत्संकल्पायत्स्वेच्छया सर्वत्र
संचरति ।

नित्या नाम कदाचिदपि भगवद्वदनभिमतविरुद्धाचरणाभावेन ज्ञानसंकोच-
प्रसङ्गरहिता अनन्तगरुडविष्वक्सेनादयः । तेषामधिकारविशेषा ईश्वरस्य

साम्यापत्तिश्रुतिरिति । 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' (मुं० ३ । १ । ३)
इति श्रुतिरित्यर्थः । 'मम साधर्म्यमागताः' (गी० १४ । २) इत्यत्राप्येवमेव ।
मोक्षो हि सायुज्यमेव । न तु सालोक्यं सामीप्यं सारूप्यं वा । तेषां स्वर्गादिवत्फला-
न्तरत्वात् । सयुग्भावो हि सायुज्यं भोगसाम्यमिति यावत् । सयुक्शब्दश्च भिन्नयोरे-
कत्र साधारणयोगं दर्शयति । 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुं० ३ । २ । ९)
इति श्रुतेरपि साम्यं एव तात्पर्यम् । तदुक्तम्—

लोकेषु विष्णोर्निवसन्ति केचित्समीपमृच्छन्ति च केचिदन्ये ।

अन्ये तु रूपं सदृशं भजन्ते सायुज्यमन्ये स तु मोक्ष उक्तः ॥ इति ।

१ क. ख. 'सरसः सो' । २ घ. 'त्युक्तप' । ३ क. 'शतं दि' । ४ घ. 'पचरि' । ५ घ.
'तस्तत्रत्यानन्त' । ६ घ. 'हस्तैः से' । ७ घ. 'रीटं म' । ८ ख. 'ह्यपरिकरो' । ९ घ. 'काशोऽ-
स्मीत्युक्त्या ते' । १० क. 'रणत्वं च' । ११ क. 'भैकृत्वं' । १२ क. 'दभि' । १३ ख. 'इशङ्कार' ।

नित्येच्छयैवानादित्वेन ऽवस्थापिताः । एतेषामवतारास्तु भगवदवतारव-
त्स्वेच्छया । एवं बद्धमुक्तनित्यभेदाभिन्नो जीवो निरूपितः ॥

इति श्रीवाधूलकुलतिलकश्रीमन्महाचार्यस्य प्रथमदासेन श्रीनिवासदासेन
विरचितायां यतीन्द्रमतदीपिकायां जीवनिरूपणो
नामाष्टमोऽवतारः ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽवतारः ।

अथेश्वरो निरूप्यते—सर्वेश्वरत्वं सर्वशेषित्वं सर्वकर्मारोध्यत्वं सर्वफल-
प्रदत्वं सर्वाधारत्वं सर्वकार्योत्पादकत्वं स्वज्ञानस्वेतरसमस्तद्रव्यशरीरैतवमि-
त्यादीनीश्वरलक्षणानि । अयमीश्वरः सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टवेषेण जग-

मोक्षं सालोक्यसारूप्यं प्रार्थये न कदाचन ।

इच्छाम्यहं महाबाहो सायुज्यं तव सुव्रत ॥

इत्यत्र मोक्षमित्यस्य मोक्षत्वेन भासमानं सालोक्यं सारूप्यं च न प्रार्थये किंतु
वस्तुतो मोक्षरूपं सायुज्यमेवेच्छामीत्यर्थः । एतेन सालोक्यादिभेदेन मोक्षे तारतम्य-
मस्तीत्यपास्तम् । सालोक्यादिषु क्वचिन्मुक्तिशब्दप्रयोगस्तु भाक्तः । मुक्तितारतम्यं
वदद्भिस्तु मुक्तिरेव शिक्षणीया । सर्वकर्मनिवृत्तौ स्वतःप्राप्तब्रह्मानुभवे तारतम्यायोगात् ॥

इति श्रीयतीन्द्रमतदीपिकाप्रकाशेऽष्टमोऽवतारः ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽवतारः ।

स्वज्ञानेति । स्वज्ञानात्स्वस्माच्चैतरद्यत्समस्तं द्रव्यं तच्छरीरकत्वमित्यर्थः । ज्ञानस्य
द्रव्यत्वेऽपि शरीरत्वाभावात्स्वज्ञानपदमुपात्तम् । अत एवेश्वरतज्ज्ञानव्यातीरिक्तं द्रव्यं
शरीरमिति शरीरलक्षणमुक्तं न्यायसिद्धाज्ञाने । इत्यादीनीति । आदिपदेन व्यापकत्वे
सति चेतनत्वं सत्यसंकल्पत्वं च ग्राह्यम् । अयमिति । अयमेवेत्यर्थः । ' सदेव
सोम्येदमग्र आसीत् ' (छा० ६.२।१) ' ब्रह्म वा इदमेकमेवाग्र आसीत् ' (बृ०
१।४।१०) ' आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् ' (ऐ० १।१) इत्यादि श्रुतिषु
तथैवामिधानात् । विशिष्टवेषेण । विशिष्टस्वरूपेण । ननु बौद्धा आर्हताश्च परमा-
णूनामेव जगत्कारणत्वं वदन्ति । वैशेषिकाश्च परमाणूनामुपादानकारणत्वमीश्वरस्य

दुपादानकारणं भवति । संकल्पविशिष्टवेषेण निमित्तकारणं भवति कालाद्यन्त-
 निमित्तकारणत्वं वदन्ति । तत्र बौद्धा वैशेषिकाश्च पार्थिवाप्यतैजसवायवीयांश्चतुर्वि-
 धान्परमाणूनभ्युपगच्छन्ति, आर्हताः पुनरेकरूपानेवेत्यन्यत् । तत्कथमत्रेश्वरस्यैव
 कारणत्वमुच्यत इति चेन्न । परमाणौ प्रमाणाभावात् । तथाहि—न तावत्प्रत्यक्षम् ।
 महत्त्वाभावात् । नाप्यनुमानम् । सदेवेत्याद्युक्तश्रुतिविरोधात् । न चाऽऽगमः । अनुप-
 लम्भात् । प्रत्युताऽऽगमादीश्वरस्यैव जगत्कारणत्वं सिध्यति । अन्येषां च प्रमाणानां
 त्रिष्वेवान्तर्भावः । यत्तु 'सांख्याः प्रधानमेव जगत्कारणम् । यथा मेघविमुक्तस्यैकरसस्य
 जलस्य नारिकेलतालचूतकपित्थादिविचित्ररसरूपेण परिणामप्रवृत्तिर्दृश्यते तथा परिणाम-
 स्वभावस्य प्रधानस्यानन्याधिष्ठितस्यैव गुणवैषम्यनिमित्तो विचित्रपरिणामः संभवति'
 इत्याहुः । तत्र प्रधानस्याचेतनत्वात् । चेतनमेव हि 'एवं विचित्रजगदाकारेण परिणामः'
 इति संकल्पहेतुः । यदि स्वभावत एव प्रवृत्तिस्तर्हि प्रलयानुपपत्तिः । जीवविशेषोऽपि
 न कारणम् । तस्य कर्मपरतन्त्रत्वात् । ब्रह्मरुद्रादयोऽपि सृज्यत्वसंहार्यत्वरूपकर्मवश्य-
 त्वश्रवणाज्जीवविशेषा एव । उपादानकारणमिति । कारणं त्रिविधम्—उपादानं
 निमित्तं सहकारि च । तत्र कार्यरूपेण परिणामयोग्यं वस्तुपादानकारणम् । यथा घटं
 प्रति मृत्तिका । उपादानवस्तुनः कार्यरूपेण परिणामं यः करोति स कर्तव्यं निमित्त-
 कारणमुच्यते । यथा कुलालः । कार्योत्पत्त्युपकरणं वस्तु सहकारिकारणम् । यथा
 दण्डचक्रादयः । जगतस्तु त्रिविधमपि कारणमीश्वर एव । सूक्ष्मचिद्विशिष्ट उपा-
 दानम् । बहु स्यामिति संकल्पविशिष्टो निमित्तम् । ज्ञानशक्त्यादिविशिष्टः सहका-
 रीत्याशयः । नन्वीश्वरस्यैवोपादानत्वे तस्य सविकारत्वात् ' अविकाराय शुद्धाय '
 (वि० पु० १।२।१) इत्युक्तं निर्विकारत्वं विरुध्यत इति चेन्न । चिदचिद्रूपविशे-
 षणविशिष्टस्येश्वरस्य जगद्रूपेण परिणामेऽपि विशेष्यस्य स्वरूपस्य विकाराभावात् ।
 परिणामस्तु विशेषणद्वारैव । यथोर्णनाभिः स्वरूपविकाराभावेऽपि स्वशरीरभूतविशे-
 षणद्वारा तन्तुजालरूपकार्यं प्रत्युपादानं तद्वत् । विशिष्टस्वरूपेण विकाराश्रयत्वमीश्वर-
 स्येष्टमेव । मनुष्यादिशरीरविशिष्टे स्वरूपतो निर्विकारे पुंसि बाल्ययुवत्वस्थविरत्वस्थु-
 लत्वादिवत् । निमित्तकारणमिति । एकस्यैवोपादानत्वं निमित्तत्वं च न विरोधा-
 वहम् । यथैक एव जीवात्मा तैस्तरुपायैः स्वसुखादीनुत्पादयति स्वयमेव च तेषां
 समवायिकारणं भवति तद्वत् । कालादीति । तदुक्तं तत्त्वत्रयभाष्ये—' सृष्टौ
 प्रसक्त्यायां चतुर्दशभुवनस्रष्टुः समष्टिपुरुषस्य ब्रह्मणः, तेन सृष्टानां नित्यसृष्टिकर्तृणां
 दशानां प्रजापतीनां सृष्ट्यपोक्षितस्य कालस्य परस्परमुत्पादकानां सर्वजन्तूनां च
 तत्तत्प्रवृत्तयः सर्वाः स्वस्मिन् यथा पर्यवस्यन्ति तथाऽन्तरात्मा सन्प्रवृत्तिहेतुरजोगुण-
 विशिष्टः सम्भूजति ' इति ।

र्यामिवेषेण सहकारिकारणं च । कार्यरूपेण विकारयोग्यं वस्तु, उपादानम् । कार्यतया परिणामयितृ, निमित्तम् । कार्योत्पत्त्युपकरणं वस्तु, सहकारि । यद्वोत्तरोत्तरावस्थाविशिष्टस्वरूपापेक्षया तदनुगुणनियतपूर्वभाव्यवस्थाविशिष्टमुपादानम् । यथा घटत्वावस्थाविशिष्टमृद्द्रव्यपेक्षया पिण्डत्वावस्थाविशिष्टं तदेव द्रव्यम् । परिणामान्मुख्यातिरिक्तेनाऽऽकारेणापेक्षितं कारणं निमित्तम् । अस्मिन्पक्षे सहकारिकारणस्य निमित्तेऽन्तर्भावः । एवं त्रिविधकारणपक्षे कारणद्वयपक्षे च कारणलक्षणलक्षितत्वात्खिलजगत्कारणत्वं भगवतो नारायणस्यैव संभवति ।

ननु कथं नारायणे कारणत्वपर्यवसानमिति चेदुच्यते—न्यायसहितवेदान्तवाक्यविचारेणैवं पर्यवस्यति । तद्यथा—आदौ तावत्प्रकृतेर्जगत्कारणत्वं नोपपद्यते । ईक्षितृत्वाद्यभावात् । छान्दोग्ये तावत्सदाकारश्रावणशब्दवाच्यानां जगत्कारणत्वं प्रतीयते । वाजसनेयके ब्रह्मशब्दवाच्यस्य कारणत्वं प्रतीयते । सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेन कारणवाक्यानामेकविषयत्वे प्रतिपादायितव्ये छागपशुन्यायेन सामान्यवाचकानां सदादिशब्दानां विशेषे ब्रह्मणि पर्यवसानं वक्तव्यम् । एवमुक्तन्यायेन ब्रह्मशब्दवाच्यस्य तैत्तिरीयोक्त आत्मशब्दवाच्ये पर्यवसानं आत्मशब्दवाच्यः क इत्याकाङ्क्षायां श्रुतिप्रसिद्ध इन्द्रो वा^१ तथा प्रसिद्धोऽग्निर्वोपास्यत्वेन प्रसिद्धः सूर्यो वा कारणत्वेनोक्तः सोमो वाऽभीष्टफलप्रदत्वेनोक्तः कुबेरो वा यमो वा वरुणो वेति विशय एतेषां कर्मवश्यत्वपरिच्छिन्नैश्वर्यवत्त्वसंहार्यत्वश्रवणान्नैते जगत्कारणभूताः किंतु श्वेताश्वतरे शिवस्य कारणत्वं भासते इति भाति । एवमथर्वणशाखायां शंभुशब्दवाच्यस्य ध्येयत्वं कारणत्वं भासते । तथैवाथर्वशिरसि रुद्रशब्दवाच्यस्य सर्वात्मकतोच्यते । तैत्तिरीये हिरण्यगर्भस्य जगत्कारणत्वं प्रतीयते । अत्रापि सामान्यविशेषन्यायाच्छिवशंभुरुद्रादिशब्दानां हिरण्यगर्भशब्दवाच्यविशेषे पर्यवसानं युज्यते । शिवशब्दस्य शिवमस्तु सर्वजगतां, शिवं कर्मास्तु, पन्थानः सन्तु ते शिवा इत्यादिभिर्भङ्गलवाचकत्वम् । रुद्रशब्दस्याग्निवाचकत्वम् । एवं महेश्वरशंभ्वादिसामान्यशब्दा अप्यवयवशक्त्या चतुर्मुखे पर्यवस्यन्ति ।

सर्वशाखेति । सर्वशाखासु प्रत्ययो ज्ञानभेकरूपमिति न्यायशरीरम् ।

१ ख. 'मयत्तान्निमि' । २ क. घ. 'शिष्टं तदुपा' । ३ घ. 'रिणो नि' । ४ घ. 'सहकृत' । ५ घ. 'चार एवं' । ६ क. 'ते । संकल्पज्ञानाद्यभावा' । ७ ग. घ. 'ईक्षाय' । ८ घ. 'श्रावणवशा' । ९ क. 'त्वेन प्र' । १० घ. 'ब्दस्य' । ११ घ. 'सानम् । आ' । १२ क. वाऽग्नि' । १३ घ. 'र्थत्वं' । १४ घ. 'वशा' । १५ घ. 'यां शिवशब्द' । १६ घ. 'गर्भे वाच्य' ।

कारणवाचिशिवादिशब्दानां मुख्यवृत्त्या रुद्रपरत्वं वा किं न स्यादिति न शङ्कनीयम् । रुद्रस्य चतुर्मुखदुत्पत्तिश्रवणादपहतपाप्मत्वश्रवणाच्च न रुद्रस्य कारणत्वम् । अतो हिरण्यगर्भप्रजापतिस्वयं भ्वादिशब्दवाच्ये चतुर्मुखे शिवादिशब्दाः पर्यवस्यन्ति । एवमपि महोपनिषन्नारायणोपनिषत्सु बाह्योपनिषन्मैत्रौरुणीयपुरुषसूक्तनारायणानुवाकान्तर्यामिब्राह्मणादिषु नारायणस्यैव परमकारणत्वसर्वशब्दवाच्यत्वमोक्षप्रदत्वजगच्छरीरत्वादेः प्रतिपादनात्स्वयंभू-हिरण्यगर्भप्रजापतिशब्दानां नारायणे पर्यवसानं युक्तमिति नारायण एवाखिलजगत्कारणं सर्वविद्यावेद्यश्च ।

नन्वन्तरादित्यविद्या रुद्रपरेति शङ्कं न कर्तव्या । तस्या विष्णुपरत्वस्यैव बहुषु प्रमाणेषु सिद्धत्वात् । भर्गुशब्दस्य सकारान्तत्वप्रतिपादनाच्च । तर्हि दहरविद्यायामाकाशशब्दवाच्यनारायणान्तर्यामितया रुद्रस्य प्रतिपादनाद्दहरविद्या रुद्रपरेति न शङ्कनीयम् । नारायणान्तर्यामिनिर्गुणजातस्यैवोपास्पत्वेन तत्राभिधानात् । एवं सर्वविद्यास्वयंभूह्यम् । अतः समस्तकल्याणगुणात्मकः प्रकृतिपुरुषाभ्यां भिन्नस्ताभ्यां विशिष्टः परब्रह्म जगत्कारणं नारायण एव । नन्वद्वैतश्रुत्या ब्रह्मैक्यमेव सत्यं निर्गुणं च । तदन्वयज्ञातृज्ञेयादिकं तस्मिन्नेव पारिकल्पितं सर्वं मिथ्या । ब्रह्माविद्यया संसरति । तत्त्वमसीत्यभेदज्ञानं तन्निवर्तकम् । तस्मान्निर्विशेषचिन्मात्रे ब्रह्मणि वेदान्तानां तात्पर्यमिति मतान्तरस्यैः प्रतिपादनात्कथं नारायणे तात्पर्यं तस्य समस्तकल्याणगुणाकरत्वादिकथं चेति चेदुच्यते—कारणत्वप्रतिपादकश्रुतिभिर्नारायणस्य कारणत्वे सिद्धे भेदाभेदश्रुत्योर्घटकश्रुत्या विषयभेदेनाविरोधे प्रतिपादिते निर्गुणप्रतिपादकश्रुतीनां हेयगुणनिर्वेधकत्वाज्ज्ञातृज्ञेयादिकल्पकाविद्याया एवाप्रामाण्याद्ब्रह्मकार्यस्य सत्यत्वादाविद्यया संसारे जीवगतदोषाणां ब्रह्मण्यपि संभवात्तन्निवर्तकान्तरस्य वक्तुमशक्यत्वात् । अतोऽद्वैतवाद्दस्यासंभवान्न निर्विशेषचिन्मात्रब्रह्मसिद्धिः । अतो नारायणस्यैव जगत्कारणत्वमोक्षप्रदत्वादिगुणयोगः संभवतीति सविशेषमेव ब्रह्म । सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टं ब्रह्मकारणं स्थूलचिदचिद्विशिष्टं ब्रह्म कार्यमिति कारणादनन्यत्कार्यमिति विशिष्टाद्वैतवेदान्तिना संप्रदायः ।

नन्वद्वैतश्रुत्येति । मायावादिना मतमेतत् ।

१ क. 'सादेवोत्प' । २ घ. 'दनप' । ३ ख. 'भस्वयंभूप्रजापत्यादि' । ४ ग. घ. 'त्रायणी' । ५ ख. 'नत्वन्त' । ६ ख. 'ज्ञातृक' । ७ घ. 'हुप्रमाणः ति' । ८ ख. 'त । गर्भश' । ९ घ. 'त्मकं प्र' । १० घ. 'मिन्नं ताभ्यां विशिष्टं परं ब्रह्म जगत्कारणम् । न' । ११ घ. 'ब्रह्मात्मैक्य' । १२ घ. 'णरवप्र' । १३ घ. 'णप्रतिपै' । १४ घ. 'माणिकत्वात्' । १५ ख. 'विद्यायाः सं' ।

एवमीश्वराङ्गीकारात्त्रिरीश्वरसांख्यमीमांसकादियतनिरासः । तस्यैवोपादानं त्वस्वीकाराद्योगपाशुपतनैयायिकानां मतनिरासः । तैर्निमित्तमात्रेश्वराङ्गीकारात् । ईश्वरस्य कार्यं प्रत्युपादानत्वनिमित्तत्वंवत्कर्तृत्वप्रेरकत्वनिघन्तृत्व-
प्रैशास्तृत्वसहकारित्वोदासीनत्वादिर्कमप्युपपद्यते । बाल्ययौवनावस्थादषो
दोषा यथा शरीरगता न तु शरीरिणि जीव एवं चिदचिच्छरीरिणः पर-
मात्मनोऽपीति न निर्विकारश्रुतिविरोधः । नियमेनाऽऽधेयत्वविधेयत्वश्लेषत्वादेः
शरीरलक्षणस्य जगति विद्यमानत्वाज्जगच्छरीर ईश्वरस्तद्गतदोषैरसंपृष्टश्च ।

स चेश्वरो विद्युस्वरूपः । विभुत्वं नाम व्यापकत्वम् । तच्चेश्वरस्य त्रिधा
स्वरूपतो धर्मभूतज्ञानतो विग्रहतश्च । स चानन्त इत्युच्यते । अनन्तो नाम
त्रिविधपरिच्छेदरहितः । त्रिविधपरिच्छेदस्तु देशतः कालतो वस्तुतः परि-
च्छेदः । सत्यत्वज्ञानत्वानन्दत्वामलत्वाद्य ईश्वरस्य स्वरूपनिरूपकधर्माः ।
ज्ञानशक्त्यादयो निरूपितस्वरूपधर्माः । सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वाद्यः सृष्ट्युप-
युक्ता धर्माः । वात्सल्यसौशील्यसौलभ्यादय आश्रयणोपयुक्ता धर्माः ।
कारुण्यादयो रक्षणोपयुक्ता धर्माः । एतेषां स्वरूपं बुद्धिपरिच्छेदे निरूपित-
मितीह न प्रपञ्च्यते । अयमीश्वरोऽण्डसृष्ट्यनन्तरं चतुर्मुखदक्षकालादिष्वन्त-
र्यामितया स्थित्वा सृष्टिं करोति । विष्णवताररूपेण मनुकालाद्यन्तर्यामिस्व-
रूपेण च स्थित्वा रक्षको भवति । रुद्रकालान्तकादीनामन्तर्यामितया
संहारमपि करोति । अतः सृष्टिस्थितिसंहारकर्ता च भवति ।

एवंप्रकार ईश्वरः परव्यूहविभवान्बर्षाम्यर्चावताररूपेण पञ्चप्रकारः । तत्र
परो नाम त्रिपाद्विभूतौ कुमुदकुमुदाक्षपुण्डरीकवामनशङ्कुकर्णसर्वनेत्रसुमुख-
सुप्रतिष्ठितादिभिर्दिव्यायुधभूषणपरिजनपरिच्छदान्वितैर्दिव्यनगरपालकैः परि-

परव्यूहेति । तदुक्तं विश्वसेनसंहितायाम्—

मम प्रकाराः पञ्चेति प्राहुर्वेदान्तपारगाः ।

परो व्यूहश्च विभवो निघन्ता सर्वदेहिनाम् ॥

अर्चावतारश्च तथा दयालुः पुरुषाकृतिः ।

इत्येवं पञ्चधा प्राहुर्मां रहस्यविदो जनाः ॥ इति ।

१ ख. °नत्वादिसिद्धी । २ ख. °त्वकर्तृ° । ३ ग. °प्रकाशयितृत्व° । घ. °प्रकाशितृत्व° । ४ ख.
ग. °कमुप° । ५ घ. °शरीरश्च° । ६ घ. °ज्ञानानन्द° । ७ घ. °पविशेषका घ° । ८ घ. °मिरु° ।
घ ९ घ. °दीनां चान्त° ।

रक्षिते श्रीवैकुण्ठारुये पुरे चण्डप्रचण्डप्रचण्डभद्रभद्रसुभद्रजयविजयधातुविधा-
तृप्रभृतिभिर्द्वारपालकैरुपेतश्रीमद्विव्यालये श्रीमहामणिमण्डपे धर्माद्यष्टपादविर-
चितसिंहासने शेषपर्यङ्के दिव्यमङ्गलविग्रहविशिष्टशतभुजः श्रीभूनीलासाहितः
शङ्खचक्रादिदिव्यायुधोपेतः श्रीमत्किरीटादिदिव्यभूषणभूषितोऽनन्तगरुडवि-
ष्वक्सेनादिभिर्नित्यैः सामगानपरैरन्यैर्मुक्तैश्चानुभूयमानो ज्ञानशक्त्याद्यनन्त-
कल्याणगुणविशिष्टः परब्रह्मपरवासुदेवादिशब्दवाच्यो नारायणः ।

व्यूहो नाम पर एवोपासनार्थं जगत्सृष्ट्यार्थं च वासुदेवसंकर्षणमद्युम्नानि-
रुद्धभेदेन चतुर्धाऽवस्थितः । तत्र षड्गुणपूर्णः श्रीवासुदेवः । ज्ञानबलाभ्यां

श्रीवैकुण्ठारुये पुर इति । पुरं चैतन्निरवधिकानन्दयुक्तं कालकृतपरिणामशून्यं च ।

‘ या वै न जातु पारिणामपदास्पदं सा कालातिगा तव परा महती विभूतिः ’
इत्युक्तत्वात् । श्रीभूनीलेति । तदुक्तम्—

वैकुण्ठे तु परे लोके श्रिया सार्धं जगत्पतिः ।

उमाभ्यां भूमिनीलाभ्यां सेवितः परमेश्वरः ॥ इति ।

‘ ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ ’ (चि०उ०१२) इति तु नीलाया अप्युपलक्षणम् ।
ह्रीर्भूमिः । तत्र लक्ष्मीः प्रधानमहिषी । श्रीभूनीलानामनन्तगरुडादीनां च देहः शुद्ध-
सत्त्वमयः । नीलेत्यत्र लीलेत्यपि पाठः । अनन्तगरुडेति । ‘ यत्र पूर्वं साध्याः
सन्ति देवाः ’ (चि०उ०११) ‘ यत्रर्षयः प्रथमजा ये पुराणाः ’ (तै०सं०१।७।७)
इत्युक्तत्वात्त्रित्यासंकुचितज्ञानानामनन्तादीनामनुभवविषयीभूतोऽयम् । तदुक्तम्—

वैकुण्ठे तु परे लोके नित्यत्वेन व्यवस्थिताः ।

पश्यन्ति च सदा देवं नेत्रैर्ज्ञानेन चामराः ॥ इति ।

अयमेव मुक्तप्राप्यः ।

‘ सूर्यकोटिप्रतीकाशाः पूर्णेन्द्रयुतसंनिभाः ।

यस्मिन्पदे विराजन्ते मुक्ताः संसारबन्धनैः ॥ इत्युक्तत्वात् ।

तदाह—मुक्तैश्चेति ।

उपासनार्थमिति । तथा चोपासकानुग्रहः सृष्ट्यादयश्च व्यूहकृत्यमिति सिद्धम् ।
संसारिसंरक्षणमस्यैव कृत्यम् ।

उपासकानुग्रहार्थं जगतो रक्षणाय च । इत्युक्तत्वात् ।

षड्गुणेति । ज्ञानबलैश्वर्यवीर्यशक्तितेजांसि षड्गुणाः । तत्र ज्ञानं नाम
सर्वदा सर्वविषयप्रकाशकः स्वप्रकाशो गुणविशेषः । शक्तिर्जगत्प्रकृतिभावोऽघ-

१ घ. ‘क्षितश्रीमद्वैकु’ । २ ग. ‘ण्डभद्रसुभद्रज’ । घ. ‘ण्डसुभद्रज’ । ३ क. ग. ‘पेते श्री’ ।
४ क. ‘ये म’ । ख. ‘ये श्रीमणि’ । ५ ख. ‘मानज्ञा’ । ६ घ. ‘द्यर्थे च’ । ७ ख. ‘षडैश्वर्यगुणः
श्री’ । घ. ‘षड्गुणपरिपू’ ।

संकर्षणः । ऐश्वर्यवीर्याभ्यां प्रद्युम्नः । शक्तितेजोभ्यामानिरुद्ध इति गुणविभागः । एतेषु चतुर्षु प्रत्येकं त्रयस्त्रयोऽत्रतीर्णाः केशवाद्यो व्यूहान्तराणि द्वादशमासानां द्वादशादित्यानां चाधिदैवतानि ऊर्ध्वपुण्ड्रेषु तेषामेव स्थानं विधीयते । तत्र

द्विदघटनासामर्थ्यं वा । बलं जगत्कारणत्वप्रयुक्तश्रमाभावः समस्तवस्तुधारणसामर्थ्यं वा । ऐश्वर्यं कर्तृत्वलक्षणं स्वातन्त्र्यं समस्तवस्तुनियमनसामर्थ्यं वा । वीर्यं जगदुपादानत्वेऽपि स्वरूपाविकाराभावः । तेजः सहकारिनैरपेक्ष्यं पराभिभवनसामर्थ्यं वेति ज्ञेयम् । संकर्षण इति । ज्ञानबलाभ्यां पूर्णं इत्यर्थः । संकर्षण ऐश्वर्यादिगुणचतुष्टयसद्भावेऽपि ज्ञानबलरूपं गुणद्वयमेव प्रकाशते । तस्याधिकृतकार्यानुगुणत्वात् । एवमग्रेऽपि । तदुक्तम्—

निगूहनं चतुष्काणां द्वंद्वानां च प्रकाशनम् ॥ इति ।

एतेन मोहनशक्त्या मनुष्यादिसजातीयशङ्कास्पदेषु विभवेष्वपि हि सिद्धं षड्गुण्यं किमुत व्यूहेष्विति सर्वेषां व्यूहानां षड्गुणाश्रयत्वेन गुणद्वयोक्तिरयुक्तेत्यपास्तम् । गुणद्वयोक्तेः प्रकाशितगुणाभिप्रायकत्वात् । संकर्षणादीनां कार्यं च तत्त्वत्रये प्रतिपादितम्—‘ तत्र संकर्षणो ज्ञानबलाभ्यां युक्तो जीवतत्त्वमाधिष्ठाय तत्प्रकृतेर्विचिच्य प्रद्युम्नावस्थां प्राप्य शास्त्रप्रवर्तनं जगत्संहारं च करोति । प्रद्युम्न ऐश्वर्यवीर्याभ्यां युक्तो मनस्तत्त्वमाधिष्ठाय धर्मोपदेशं मनुचतुष्टयप्रभृतिशुद्धवर्गसृष्टिं च करोति । अनिरुद्धः शक्तितेजोभ्यां युक्तो रक्षणस्य तत्त्वज्ञानप्रदानस्य कालसृष्टेर्मिश्रसृष्टेश्च निर्वाहकः ’ इति । स्मृतावपि—

बलेन हरतीदं स गुणेन निखिलं मुने ।

ज्ञानेन तनुते शास्त्रं सर्वसिद्धान्तगोचरम् ॥

ऐश्वर्येण गुणेनासौ सृजते तच्चराचरम् ।

वीर्येण सर्वधर्माणि प्रवर्तयति सर्वशः ॥

शक्त्या जगादिदं सर्वमनन्ताण्डं निरन्तरम् ।

विभर्ति पाति च हरिर्मणिसानुरिवाणुकम् ॥

तेजसा निखिलं तत्त्वं ज्ञापयत्यात्मनो मुने ॥ इति ।

स संकर्षणः । असौ प्रद्युम्नः । हरिरनिरुद्धः । तथा च संकर्षणस्य कार्यं शास्त्रप्रवर्तनं संहारश्च । प्रद्युम्नस्य धर्मनयनं सृष्टिश्च । अनिरुद्धस्य तत्त्वगमनं रक्षणं चेति । अत्राऽऽद्यव्यूहस्य वासुदेवस्य षड्गुणतयाऽनुसंधेयत्वात्तस्य परस्मादभेदं विवक्षित्वा क्वचिन्न्यव्यूहो देव इत्युक्तमिति न तद्विरोध इति बोध्यम् । प्रत्येकमिति । केशवनारायणमाधवरूपं त्रयं वासुदेवाद्भिभाव्यते । गोविन्दविष्णुमधुसूदनरूपं त्रयं संकर्षणात् ।

कनकप्रभः केशवश्चतुश्चक्रधरः । इषामो नारायणश्चतुःशङ्खधरः । मणिप्रभो
माघवश्चतुर्गदाधरः । चन्द्राभो गोविन्दश्चतुःशार्ङ्गधरः । पद्मकिञ्जल्कसंनिभो
विष्णुश्चतुर्हलधरः । अब्जाभो मधुसूदनश्चतुर्मुशलधरः । अग्निवर्णास्त्रिविक्रमश्च-
तुःखड्गधरः । बालसूर्याभो वामनश्चतुर्बज्रधरः । पुण्डरीकाभः श्रीधरश्चतुर्ष-
ट्टिशधरः । तडित्प्रभो हृषीकेशश्चतुर्मुद्गरधरः । सूर्याभः पद्मनाभः पञ्चायुध-
धरः । इन्द्रगोपनिभो दामोदरश्चतुष्पाशधरः ।

विभवो नाम तत्तत्सजातीयरूपेणाऽऽविर्भावः । स दशधा—ते च मत्स्याद-
योऽवतारविशेषाः । तत्र वेदापहारिदैत्यनिरसनद्वारा ब्रह्मणे प्रमाणर्पदत्वार्थो
मत्स्यावतारः । देवानामजरामृतिहेत्वमृतोत्पादने मन्दराधारत्वेनावतीर्णः
कूर्मावतारः । संसारसागरोन्मग्नजनोद्धर्तुकामः स्वमहिषीभूम्युद्धरणार्थमवती-
र्णो वराहः । आश्रितसंरक्षणार्थं महासुरग्रहस्तम्भेऽवतीर्णो नृसिंहावतारः ।
त्रिविक्रमो भूत्वा स्वपादारविन्दोद्भवेन जलेन जगत्पापापहरणेन तद्रक्षणार्थ-
मवतीर्णो वामनः । दृष्टक्षत्रियनिरसनार्थं परशुरामः । शरणागतरक्षणार्थो
धर्मस्थापनार्थः श्रीरामः प्रलम्बादिनिरसनार्थं बलभद्रः । मोक्षोपायदर्शनार्थं
श्रीकृष्णः । अधर्मिष्ठान्निरस्य पूर्णधर्मोत्पादनार्थं कलिनिर्मोचनार्थं कल्क्यव-
तारः । एवमेकैकावतारेष्वनन्तप्रकाराः सन्ति । षट्त्रिंशद्भेदाभिन्नाः पद्मना-
त्रिविक्रमवामनश्रीधररूपं त्रयं प्रदुष्नात् । हृषीकेशपद्मनाभदामोदररूपं त्रयमनिरू-
द्धादिति भावः । मणिप्रभः । इन्द्रनीलनिभः ।

इन्द्रनीलनिभश्यामं चतुर्हस्तैर्गदाधरम् । इत्युक्तत्वात् ।

चतुःशार्ङ्गधर इति । चतुःपद्मधर इत्यपपाठः ।

चतुर्भुजधनुष्मन्तं षन्द्रमःसदृशद्युतिम् । इत्युक्तत्वात् ।

विभव इति । विभवश्च मुख्यगौणभेदाद्द्विविधः । तत्र मुख्यः साक्षादवतारः ।
गौणस्त्वावेशावतारः । आवेशश्च स्वरूपावेशः शक्त्यावेश इति द्विविधः । तत्र
स्वरूपावेशः स्वेन रूपेण सहाऽऽवेशः । स च परशुरामादीनां चेतनानां शरीरेषु
स्वासाधारणविग्रहेण सहाऽऽवेशः । शक्त्यावेशः कार्यकाले विविशिवादिचेतनेषु
शक्तिमात्रेण स्फुरणम् । अत्र गौणत्वमिच्छयाऽऽगतं न स्वरूपेण । यथा रामकृ-
ष्णादिमनुष्यत्वं मत्स्यादितिर्यक्तत्वं चेच्छयाऽऽगतं तद्वत् । षट्त्रिंशद्भेदेति ।

१ ग. घ. °प्रभाभो° । २ ख. °तुः पद्मध° । ३ घ. °मुसल° । ४ क. °ष्पदध° । ५ घ.
°चतुःपा° । ६ घ. °पाः । ब्र° । ७ ग. °निरासपूर्वकं ब्र° । ८ ग. °प्रदानार्थमवतीर्णो म° । ९ घ.
°रः । अमृ° । १० घ. °रामरणहे । ११ घ. °रः । भूमेरुद्ध° । १२ ग. °तर° । १३ घ. °त्पापह° ।
१४ घ. °णार्थोऽव° । १५ ख. घ. °क्षणध° । १६ घ. °नार्थश्री° । १७ ख. रामचन्द्रः ॥ १८ ग.
°णः कलि° ।

भादयोऽपि पुनर्दधिभक्तहयग्रीवनरनारायणादयोऽपि । एवं मुख्यगौणपूर्णा-
शावेशाद्यवतारा बहुमकाराः । तेषुपास्थानुपास्यविभागो द्रष्टव्यः । अवता-
राणामिच्छैव हेतुर्न कर्म । प्रयोजनं तु दुष्कृतविनाशपूर्वकं साधुपरित्राणमेव ।

नन्वहिर्बुध्न्यसंहितायामेकोनचत्वारिंशदुक्ताः । तथा हि—

विभवाः पद्मनाभाद्यास्त्रिंशच्च नव चैव हि ।
पद्मनाभो ध्रुवोऽनन्तः शकत्यात्मा मधुसूदनः ॥
विद्याधिदेवकपिलो विश्वरूपो विहंगमः ।
क्रोधात्मा बडवावक्त्रो धर्मो बागीश्वरस्तथा ॥
एकाम्भोमिधिशायी च भगवान्कमठेश्वरः ।
वराहो नरसिंहश्च पीयूषहरणस्तथा ॥
श्रीपतिर्भगवान्देवः कान्तात्माऽमृतधारकः ।
राहुजित्कालनेमिन्नः पारिजातहस्तथा ॥
लोकनाभस्तु शान्तात्मा दत्तात्रेयो महाप्रभुः ।
न्यग्रोधशायी भगवानेकशृङ्गतनुस्तथा ॥
देवो वामनदेहस्तु सर्वव्यापी त्रिविक्रमः ।
नरो नरायणश्चैव हरिः कृष्णस्तथैव च ॥
ज्वलत्परशुधूम्रामो रावाश्चान्वश्चतुर्गति ।
वेदविद्भगवान्कल्की पातालशयितः प्रभुः ॥
त्रिंशच्च नव चैवैते पद्मनाभादयो मताः ॥ इति ।

तत्कथमत्र षट्त्रिंशदित्युक्तमिति चेन्न । कपिलेदत्तात्रेयपरशुरामाणामावेशावतार-
त्वात्तान्विहायात्र षट्त्रिंशदित्युक्तेः । दधिभक्तेति । तत्रामृतप्रदानार्थमङ्गीकृतो
दधिभक्तावतारः । वेदप्रदानार्थो हयग्रीवावतारः । शिष्याचार्यरूपे स्थित्वा श्रीमन्त्र-
प्रकाशकृन्नरनारावणावतारः । तेष्विति । तदुक्तं तत्त्वत्रये ' तत्राप्राकृतविग्रहा भजह-
त्स्वभावविभवा दीपादुत्पन्नदीपवत्स्थिता मुख्यप्रादुर्भावाः सर्वे मुमुक्षूणामुपास्याः । विधि-
शिवपावकव्यासजामदग्न्यार्जुनवित्तेशादिरूपा गौणप्रादुर्भावाः सर्वेऽहंकारयुक्तजीवा-
धिष्ठातृत्वान्मुमुक्षूणामनुपास्याः ' इति । अत्राऽऽदिशब्देन ककुत्स्थमुचुकुन्दसंग्रहः ।

अन्तर्यामित्वं नाम स्वर्गनरकाद्यनुभवदशायामपि जीवात्मनः सुहृत्त्वेन योगिभिर्द्रष्टव्यतया हृदयप्रदेशावस्थितं रूपम् । जीवेन साकं विद्यमानोऽपि तद्गतदोषैरसंपृष्टो वर्तते ।

अर्चावतारो नाम देशकालविप्रकर्षरहित आश्रिताभिमतद्रव्यादिकं शरीरतया स्वीकृत्य तस्मिन्नप्राकृतशरीरविशिष्टः सन्नर्चकपराधीनस्नानभोजनासनशयनस्थितिः सर्वसाद्दिष्टः परिपूर्णो गृहग्रामनगरभूदेशशैलादिषु वर्तमानो मूर्तिविशेषः । स च स्वयंव्यक्तदैवसैद्धमानुषभेदाच्चतुर्विधः । एवमुक्तासु

विधिशिवाद्यश्च बुभुक्षुणामेवोपास्या इति बोध्यम् । इच्छेवेति । 'संभवाभ्यात्ममायया' (गी० ४।६) इत्यत्राऽऽत्ममाययेत्यस्याऽऽत्मेच्छयेत्यर्थः । न कर्मेति ।

न च—पतिव्रता धर्मपरा हता येन मम प्रिया ।

स तु प्रियाविरहितश्चिरकालं भविष्यति ॥

इत्येतादृशभृगुशापादिभिर्जात इति कथमुक्तमिति वाच्यम् । तत्र शापो व्याजमात्रमवतारस्त्वच्छाप्रयुक्त एवेत्याशयात् । प्रयोजनं त्विति । अत एवोक्तम्—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ (गी० ४ । ८) इति ।

अन्तर्यामित्वमिति । 'य आत्मानमन्तरो यमयति' (बृ० ३ । ७ । ३) इति श्रुतिरत्र प्रमाणम् । अस्य चान्तर्यामिणः स्थितिर्द्विधा—तत्रैका स्वर्गनरकप्रवेशादिसर्वावस्थास्वपि सकलचेतनानां सहायभूतस्य तांस्त्यक्तुमसमर्थस्य स्थितिः । अपरा च शुभाश्रयेण विग्रहेण सहितस्य तेषां ध्येयत्वार्थं तान् रक्षितुं च बन्धुभूतस्य हृदयकमले स्थितिः ।

अर्चावतारः । प्रतिमावतारः । देशेति । रामकृष्णाद्यवतारेष्वयोध्यामथुरादिदेशनियम इवार्चावतारेषु देशनियमो नास्तीत्यर्थः । एवं कालनियमोऽपि । आश्रिताभिमतद्रव्यादिकम् । सुवर्णरजतशिलादिकम् । अर्चावतास्यापि षड्गुणाश्रयत्वम् । तदुक्तम्—

सर्वातिशयषाड्गुण्यं संस्थितं मन्त्रबिम्बयोः ।

मन्त्रे वाच्यात्मना नित्यं बिम्बे तु कृपया स्थितम् ॥ इति ।

बिम्बं प्रतिमा । स चेति । देवालयादिष्वयं विद्यमानो मूर्तिविशेषः क्वचित्स्वयं व्यक्तो भवति । क्वचिद्देवैः स्थापितः । क्वचित्सिद्धैः । क्वचिन्मनुष्यैः । तत्राऽऽद्यत्रय-

पञ्चावस्थास्वपि श्रीविशिष्ट एव भगवान्बर्तत इति श्रुत्या प्रमाणसिद्धोऽर्थः ।
तेनैकायनोक्तनिःश्रीकवादो निरस्तः । एवमीश्वरो निरूपितः ।

इति श्रीबाधूलकुलतिलकश्रीमन्महाचार्यस्य प्रथमदशान श्रीनिवासदासेन
विरचितायां यतीन्द्रमतदीपिकायामीश्वरनिरूपणं
नाम नवमोऽवतारः ॥ ९ ॥

मैतिह्यादवगन्तव्यम् । चतुर्थस्तुः प्रसिद्ध एव । आर्षस्तूकान्तर्भूत एव । श्रीविशिष्ट
एवेति । अत एवोक्तम्—

नित्यैवैषा जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी ।

यथा सर्वगतो विष्णुस्तथैवेयं द्विजोत्तम ॥

देवत्वे देवदेहेयं मनुष्यत्वे च मानुषी ।

विष्णोरेवानुरूपां वै करोत्येषाऽऽत्मनस्तनुम् ॥ इति ।

अत्रोपासकस्य प्रथमतोऽर्चावतारस्योपासनेऽधिकारः । ततो विभवस्य । ततो
व्यूहस्य । ततः परस्य । ततोऽन्तर्यामिणः । तदुक्तम्—

उपासकानुरोधेन भजते मूर्तिपञ्चकम् ।

तदर्चाविभवव्यूहसूक्ष्मान्तर्यामिसंज्ञकम् ॥

यदाश्रित्यैव चिद्वर्गस्तत्तज्ज्ञेयं प्रपद्यते ।

पूर्वपूर्वोदितोपास्तिविशेषक्षीणकल्पषः ॥

उत्तरोत्तरमूर्तीनामुपास्त्यधिकृतो भवेत् ॥ इति ।

वासुदेवः स्वभक्तेषु वात्सल्यात्तत्तदीहितम् ।

अधिकार्यानुगुण्येन प्रयच्छति फलं बहु ॥

तदर्थं लीलया स्वीयाः पञ्च मूर्तीः करोति वै ।

प्रतिमादिकमर्चा स्यादवतारास्तु वैभवाः ॥

संकर्षणो वासुदेवः प्रद्युम्नश्चानिरुद्धकः ।

व्यूहश्चतुर्विधो ज्ञेयः सूक्ष्मं संपूर्णषड्गुणम् ॥

तदेव वासुदेवारुयं परं ब्रह्म निगद्यते ।

अन्तर्यामी जीवसंस्थो जीवप्रेरक ईरितः ॥

य आत्मनीति वेदान्तवाक्यजालैर्निरूपितः ।

अर्चोपासनया क्षिप्ते कल्पषेऽधिकृतो भवेत् ॥

अथ दशमोऽवतारः ।

एवं द्रव्यनिरूपणानन्तरं क्रमप्राप्तमद्रव्यं निरूप्यते-संयोगरहितमद्रव्यम् । तदद्रव्यं च सत्त्वरजस्तमांसि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः संयोगः शक्तिरिति दशप्रकारमेव । तत्र प्रकाशसुखलाघवादिनिदानमतीन्द्रियं शक्त्याद्यतिरिक्तमद्रव्यं सत्त्वम् । तद्विधम्-शुद्धसत्त्वं मिश्रसत्त्वं चेति । रजस्तमःशून्यद्रव्यवृत्तिं सत्त्वं शुद्धसत्त्वम् । तन्नित्याविभूताद्युपचारात्तत्प्रवर्तकेश्वरे च । रजस्तमः-

विमवोपासने, पश्चाद्द्रव्यहोपास्तौ ततः परम् ।

सूक्ष्मे, तदनु शक्तः स्यादन्तर्यामिणमीक्षितुम् ॥ इति च ।

इति श्रीयतीन्द्रमतदीपिकाप्रकाशे नवमोऽवतारः ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽवतारः ।

संयोगरहितमिति । द्रव्ययोरेव संयोग इति नियमात् । सत्त्वेति । ननु सत्त्वरजस्तमसां द्रव्याभेदेन द्रव्यत्वमेवेति चेन्न । ' रचनानुपपत्तेश्च ' (ब्र० सू० २।२।१) इतिसूत्रस्थभाष्यविरोधात् । तत्र हि चकारादन्वयस्यानैकान्त्यं समुच्चिनोतीत्युपक्रम्य सत्त्वादयो द्रव्यधर्मा न तु द्रव्यस्वरूपम् । सत्त्वादयो हि पृथिव्यादिद्रव्यगतलघुत्वप्रकाशादिहेतुभूतास्तत्त्वभावविशेषा एव न तु सृष्टिरण्यादिवद्द्रव्यतया कार्यान्विता उपलभ्यन्ते । गुणा इत्येव च सत्त्वादीनां प्रसिद्धिरित्युक्तम् । सत्त्वादीनां द्रव्यत्वस्याप्रामाणिकतया गुणशब्दस्यास्वारस्यमयुक्तमिति श्रुतप्रकाशिकायामुक्तम् । वेदान्तदीपेऽपि चकारात्सत्त्वादीनां द्रव्यगुणत्वेन शौकल्यादेरिवोपादानकारणत्वासंभवं समुच्चिनोति । सत्त्वादयो हि कार्यगतलाघवप्रकाशादिहेतुभूताः कारणभूतपृथिव्यादिगतास्तत्त्वभावविशेषा इत्युक्तम् । सत्त्वरजस्तमसां शब्दादिपञ्चानां च भूताद्यनुपादानानां गुणत्वम् । तदुपादानानां तन्मात्रत्वाद्द्रव्यत्वमिति तु कृष्णावधूतपण्डितैरुक्तम् । प्रकाशसुखेति । अनेन रजस्तमसोव्यावृत्तिः । अतीन्द्रियमित्यनेन शब्दादीनां व्यावृत्तिः । शक्त्याद्यतिरिक्तमित्यनेन शक्त्यादिव्यावृत्तिः । प्रकाशश्च वस्तुयाथात्म्यावबोधः । आदिपदेन ज्ञानसुखसङ्गसंग्रहः । तदुक्तं गीताभाष्ये-(१४।६) ज्ञानसुखजननं सत्त्वं

सहवर्तिसत्त्वं मिश्रसत्त्वम् । तन्निगुणे तत्संबन्धिनि जीवे चोपचारादिति ज्ञेयम् ।

लोभप्रवृत्त्यादिनिदानमतीन्द्रियं शक्त्याद्यतिरिक्तमद्रव्यं रजः ।

प्रमादमोहादिनिमित्तमतीन्द्रियं शक्त्याद्यतिरिक्तमद्रव्यं तमः । त्रीष्वप्येतानि यावत्प्रकृतिव्याप्तानि प्रकृतिवश्यपुरुषसंबद्धान्यनित्यानि । नित्यसंतानानि प्रलयदशायां समानि सृष्ट्यादौ विषमाणि सृष्टिस्थितिसंहारोपयुक्तानि, ईश्वरसंकल्पादिसहकारिभेदात्परस्पराभिभवोद्भवकाराणीत्येतानि साधारणानि । सत्त्वगुणस्तु सम्यग्ज्ञानरूपसुखादिहेतुमोक्षप्रदश्च । रजोगुणस्तु रागाद्यात्मकः कर्मसंज्ञदुःखादिहेतुः स्वर्गाद्यामुष्णिकप्रदः । तमोगुणस्त्वज्ञानरूप आलस्यादिहेतुर्नरकप्रदश्च । अतः सत्त्वादयो गुणा न द्रव्यरूपाः ।

अस्मदादिश्रोत्रग्राह्यः पञ्चभूतवर्ती शब्दः । स द्विविधः—वर्णात्मकोऽव-

पुनरपि तयोः सङ्गजननं चेति । मिश्रसत्त्वमिति । इदमेवाशुद्धसत्त्वमिति व्यवहियते ।

लोभप्रवृत्त्यादीति । लोभः स्वकीयद्रव्यस्यात्यागशीलता । प्रवृत्तिस्तु प्रयोजनमनुद्दिश्यापि चलस्वभावता । आदिपदेनाऽऽरम्भाशमस्पृहासंग्रहः । आरम्भश्च फलसाधनभूतकर्मारम्भः । इन्द्रियानुपरतिरशमः । विषयेच्छा स्पृहा ।

प्रमादमोहादीति । अकार्यप्रवृत्तिफलमनवधानं प्रमादः । विपरीतज्ञानं मोहः । आदिपदेनाप्रकाशाप्रवृत्तिसंग्रहः । ज्ञानानुदयोऽप्रकाशः । अप्रवृत्तिश्च स्तब्धता ।

पञ्चभूतवर्तीति । मेघो गर्जति शङ्खो नदति मेरी ध्वनतीत्यादिव्यवहारदर्शनात् । 'नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि' (तै० १ । १ । १) इति श्रुतौ च वायोरेव वेदात्मना परिणतिरुपलभ्यते । तत्तु वायोः शब्दाधारत्वमन्तरेण न संजाघटीति । तस्य ह वा एतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यह्वेदः' (वृ० २ । ४ । १०) इत्यादिश्रुतिरप्यत्र प्रमाणम् । विष्णुपुराणे च (२ । १४ । ३२)—

वेणुरन्ध्रविभेदेन भेदः षड्जादिसंज्ञितः ।

अभेदव्यापिनो वायोस्तथाऽसौ परमात्मनः ॥ इत्युक्तम् ।

एवं नामिशेदादेव निर्गतस्य वायोस्ताल्वादिस्थानसंबन्धेन तत्तच्छब्दपरिणतिहेतुत्वं प्रसिद्धमेव । अत्रेदं बोध्यम्—लीलाविभूताविव नित्याविभूतावपि

१ ग. 'हृत्ति' । २ क. 'न्धिजी' । ३ क. 'मानानि' । ४ ग. 'सृष्टिदशायां वि' । ५ क. 'राण्येता' । ६ ख. 'सत्यज्ञान' । ७ घ. 'सम्यक्त्वज्ञान' । ७ घ. 'सुखहे' । ग. ८ 'त्मककर्म' । ९ क. 'सङ्निदुःखहे' । ख. 'सङ्गीदुः' । १० ग. 'स्वर्गनरकाया' ।

र्णात्मकश्चेति । अकचटतपयादिविशिष्टपञ्चाशदक्षरात्मको वर्णात्मकः । देव-
मनुष्यादीनां ताल्वादिव्यङ्ग्यः । भेर्यादिजन्योऽवर्णात्मकः । एवंभूतः शब्दः
श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्यते । श्रोत्रेन्द्रियगमनाद्गुणकवायवागमनाद्वा शब्दग्रहः । ननु
श्रुत्या शब्दस्य द्रव्यत्वं प्रतीयते । अद्रव्यत्वं कथमिति चेन्न । अकारादेः
प्रणवोत्पादकत्वं वाच्यद्वारा संभवतीति परिहारादद्रव्यत्वमुपपद्यते ।
इति शब्दः ।

शब्दादयो वर्तन्त एव । ते च सर्वोत्कृष्टाः सर्वातिशायिनश्च । यथा कस्तूरीचम्पक-
प्रभृतिषु गन्धसाम्ये सत्यपि सौरभविशेषस्तत्र तत्रोपलभ्यते, तथा लीलाविभूतौ नित्य-
विभूतौ च शब्दादिसद्भवेऽपि प्रमाणसिद्धं वैषम्यमनातिलङ्घनीयमेव । न हि वीणा-
वेणुप्रभृतीनामैकरूप्येण स्वरानियम इति ।

पञ्चाशदिति । स्वराः षोडश । कादयः स्पर्शाः पञ्चविंशतिः, यरलवशषसह इत्ये-
तेऽष्टौ । क्षवर्णश्चैकः । तस्य संयुक्तत्वेऽपि मातृकापाठे पृथग्गणनात् । लकारस्तु न
पृथग्गणितः । मातृकापाठे लळयोरभेदात् । ननु दूरस्थशब्दस्य कथं श्रोत्रेन्द्रियसंनि-
कर्ष इति चेत्तत्राऽऽह—श्रोत्रेन्द्रियेति । तदुक्तं वरदनारायणभट्टारकैः—

दूरे शब्दः समीपे च प्राच्यां चेत्यादिदर्शनात् ।

गत्वा श्रोत्रेन्द्रियं तत्र ततः शब्दग्रहक्षमम् ॥ इति ।

व्यञ्जकेति । शब्दाधारभेर्याद्यवयवागमेन शब्दाधारवायवागमेन वा दूरस्थशब्द-
ग्रह इत्यपि केचित् । ननु श्रुत्येति । भूरित्येव ऋग्भेदादजायत भुव इति यजुर्वे-
दात्स्वरिति सामवेदात्तानि शुक्राण्यम्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वर्णा अजायन्त,
अकार उकारो मकार इति तानेकधा समभरत्तदेतदोमिति (ऐ० ब्रा० अ० २५ ब्र० ७)
इति हि श्रुतिः । स्मृतिरपि—

अकारं चाप्यकारं च मकारं च प्रजापतिः ।

वेदप्रयान्निरदुहद्भूर्भुवः स्वरितीति च ॥ इति ।

अत्राकारादिवर्णानां प्रणवोत्पादानकारणत्वप्रतिपादनेन द्रव्यत्वमन्तरेणोत्पादानकारण-
त्वासंभवेन द्रव्यत्वं सिध्यति । यस्य वेदाः शरीरमिति श्रुतौ च शब्दात्मकवेदस्य
शरीरत्वप्रतिपादनेन शरीरत्वस्य च द्रव्यत्वव्याप्यत्वेन शब्दस्य द्रव्यत्वं सिध्यती-
त्याशयः । प्रयोगश्च—शब्दो द्रव्यम्, साक्षादिन्द्रियसंबन्धेन गृह्यमाणत्वाद्धटव-
दिति । वाच्यद्वारेति । तथा च वाच्यस्योत्पादानकारणत्वेन द्रव्यत्वेऽपि वाचकस्य
शब्दस्य द्रव्यत्वे मानाभावः । 'यस्य वेदाः शरीरम्' (बृ० ३ । ७ । ३)
इति तु देवताविशेषविषयत्वेनोपपद्यते । साक्षादिन्द्रियसंबन्धेन गृह्यमाणत्वमिति
हेतुस्तु स्वरूपासिद्धः । शब्दस्याऽऽश्रयद्वारैवेन्द्रियसंनिकर्षात् । न च

अस्मदादिस्पर्शनेन्द्रियग्राह्याविजातीयव्यावृत्तमद्रव्यं स्पर्शः । स च त्रिविधः—
शीतोष्णानुभयात्मकभेदात् । अप्सु शीतस्पर्शः । तेजस्युष्णस्पर्शः । क्षितिप-
वनयोरनुष्णाशीतस्पर्शः । स च पुनर्द्विविधः—पाकजोऽपाकजश्चेति । पृथिव्यां
पूर्वः । इतरेषु त्रिष्वितरः । तत्रामृतगरलतूलोपलगोत्राह्वणचाण्डालादिस्पर्श-
विशेषा अपाकजभेदाः । इति स्पर्शः ।

अस्मदादिचक्षुरिन्द्रियैकग्राह्याविजातीयव्यावृत्तमद्रव्यं रूपम् । तच्चतुर्विधम्—
श्वेतरक्तपीतकृष्णभेदात् । तत्र सलिलकलयौतशङ्खशुक्तिशशाङ्कादीनां रूप-
विशेषाः श्वेतभेदाः । हुतवहजपादाडिमवन्धुजीवाविद्रुमपद्मरागादीनां तु रूप-
विशेषा रक्तभेदाः । काञ्चनहरितालहरिद्रादीनां रूपविशेषाः पीतभेदाः ।
मरकतमधुकरजलधरतिभिरतमालदूर्वादीनां कृष्णभेदाः । पीतमपि रक्तावा-
न्तरभेदं केचिदिच्छन्ति । श्रुत्यनुसारात् । प्रकारान्तरेण रूपं द्विविधम्—

श्रोत्रेन्द्रियस्याऽऽकाशस्वरूपत्वात्तेन साक्षादेव शब्दस्य संनिकर्ष इति वाच्यम् ।
श्रोत्रेन्द्रियस्याऽऽकाशत्वायोगात् ।

अस्मदादीति । अस्मदादिस्पर्शनेन्द्रियग्राह्यो यः स्पर्शस्तद्विजातीयाः शब्दादय-
स्तद्व्यावृत्तं तद्विभ्रमित्यर्थः । विजातीयव्यावृत्तपदानुपादानेऽनुद्भूतस्पर्शेऽव्याप्तिः
स्यात् । तस्यास्मदादिस्पर्शनेन्द्रियग्रह्यत्वाभावात् । घटादिव्यावृत्तयेऽद्रव्यमिति । एव-
मग्रेऽप्युच्यम् । तेजस्युष्ण इति ।

सुतं पतन्तं प्रसमीक्ष्य पावके न बोधायामास पतिं पतित्रता ।

पतित्रताशापमयेन पीडितो हुताशनश्चन्दनबिन्दुशीतलः ॥

इत्यस्य त्वयमाशयः—हुताशनस्य न शीतलत्वं जायते । अपि तु पतित्रतासंक-
ल्पविशेषेण तस्य दाहकत्वमेवोपरुध्यत इति । अनुष्णाशीत इति । अनुष्णाशीतोऽ-
पि स्पर्श एव । न तु शीतोष्णविरहमात्रम् । आकाशादावपि तथोपलम्भप्रसङ्गात् ।
वायुपृथिव्योः स्पर्शवत्त्वस्य श्रुत्यादिसिद्धत्वाच्च । न च स्पर्शसामान्यं तदिति वाच्यम् ।
निर्विशेषं न सामान्यमिति न्यायात् । चाण्डालादीति । आदिना कापिकच्छूर्संग्रहः ।
गोब्राह्मणचाण्डालादिषु स्पर्शभेदस्तु तत्तत्स्पर्शाधीनशुद्धचशुद्धिभेदेन बोध्यः । मृदु-
त्वकठिनत्वादयोऽपि स्पर्शविशेषा एव । स्पर्शनेनैव तदुपलब्धेः । चक्षुषा तु न तदु-
पलब्धिः । किंतु तत्र मृदुत्वादिग्याप्तरूपविशेषग्रहणेन तदनुमानमेव । केचित्तु मृदु-
त्वादयः संयोगविशेषा एवेत्याहुः ।

चक्षुरिन्द्रियैकग्राह्येति । चक्षुरिन्द्रियमात्रग्राह्यमित्यर्थः । श्रुत्यनुसारादिति ।

‘यदग्रे रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य’ (छा० ६।४।१)

१ ग. °ग्राह्याविजाताव्यावृत्तोऽद्रव्यं । ४. °ग्राह्यमद्रव्यं । २ घ. °पा. इति । ३ ग.
°दाः । अस्म° । ४ ग. घ. °तुर्धा । ५ क. ख. ग. °ण द्विधा ।

भास्वराभास्वरभेदात् । तेजोगतं भास्वरम् । क्षितिसलिलगतं चाभास्वरम् । एवं चत्वार्येव रूपाणि । तेन चित्रं नाम पञ्चमं रूपमिति मतनिरासः । अत एव चित्रगन्धस्पर्शरसानामपि निरासः । इति रूपम् ।

अस्मदादिजिह्वैकग्राह्यविजातीयेतरो रसः । स षोढा—मधुराम्ललवण-कटुकषायतिक्तभेदात् । तत्रेक्षुक्षीरगुडादिरसा मधुरभेदाः । चूतचिञ्चामलका-दिरसा आम्लाः । सैन्धवोषरविकारा लवणभेदाः । किंपाकनिम्बादिरसाः कटुभेदाः । हरीतकीविभीतकचूताङ्कुरादिरसाः कषायभेदाः । शुण्ठीमरीचि-सर्षपादिरसास्तिक्तभेदाः । इति रसः ।

अस्मदादिघ्राणग्राह्यविजातीयेतरोऽद्रव्यविशेषो गन्धः । स च द्विविधः—सुरभिरसुरभिश्चेति । पाटीरमृगमदघुसृणचम्पकादिगन्धाः सुरभिभेदाः । अयं च गन्धः पृथिव्येकवर्ती पाकभेदाद्भिन्नः । पवनसलिलादिषु गन्धोप-लम्भः पार्थिवसङ्गादयो दहतीतिवदौपचारिकः । पञ्चीकरणप्रक्रियया सर्व-भूतेषु सर्वभूतगुणानां विद्यमानत्वेऽपि प्राधान्याभिप्रायेणोक्तमिति न विरोधः । पाकाद्गुणान्तरोत्पत्तिः स्वाश्रयनाशाभावादेवोपपत्तेः पीलुपाकवा-दिमतनिरासः । इति गन्धः ।

इति श्रुतौ त्रयाणामेव रूपाणां प्रतिपादनादिति भावः । तेजोगतमिति । तेजसि रूपं रक्तभास्वरम् । सलिले तु शुक्लभास्वरम् । पृथिव्यां बहुविधमभास्वरम् । यद्यपि मन्त्र-शास्त्रे पीता भूमिः श्वेतमम्भो वह्निपवनौ रक्तधूम्रौ द्यौर्नीलेति पञ्चानामपि भूतानां रूप-वत्त्वं दृश्यते तथाऽपि तत्केवलं ध्यानार्थमेव । यथा तत्र मन्त्रवर्णानामपि रूपं ध्यानार्थं वर्णितं तद्वत् । अन्यथा 'यदग्ने' इत्युक्तश्रुतिविरोधः । अनुभवविरोधश्च । चतुर्विधस्यापि रूपस्य पृथिव्यामुपलम्भात् । श्रुतौ पृथिव्याः कृष्णरूपोक्तिस्तु न रूपान्तरविरहपरा । कलुषजलादौ वर्णभेदस्तु पृथिवीसंसर्गविशेषादेव । चित्रामिति । यत्तु नैयायिकाश्चित्रमिति किमपि रूपान्तरमस्ति । अन्यथा श्वेतपीताद्यनेकतन्त्वारब्ध-पटस्य नीरूपत्वेनाप्रत्यक्षप्रसङ्गादित्याहुः । तत्र । अवयवातिरिक्तस्यावयविनोऽभा-वात् । अवयवेषु च श्वेतादेरेकैकस्यैवोपलम्भात् ।

सुरभिभेदा इति । एतदुत्तरं पूतिविस्त्रादिगन्धा असुराभभदा इति पाठः । पीलु-पाकेति । पीलवः परमाणवस्तेष्वेव पाको न त्ववयविनीति वैशेषिकाः । अवय-

१ क. ख. 'सः । अस्म' । २ घ. चित्ररसगन्धादिस्पर्शानामपि' । ३ ग. 'दिरसनेन्द्रियग्रा' । ४ क. 'कारभेदा लव' । ग. 'कारादिरसा लव' । ५ घ. 'ण्ठीमिरिचीत' । ६ ग. 'दाः । अस्म' । ७ ख. 'प्राणेन्द्रियग्रा' । ८ ग. घ. स द्वि' । ९ घ. 'भेदाभिन्नः । १० ग. घ. 'वसंसर्गाद' । ११ ग. घ. 'वैगु' । १२ ख. 'वोत्पत्तेः । १३ ग. 'पाकादिम' । घ. 'पाकम' ।

संयुक्तप्रत्ययनिमित्तं संयोगः । स च सामान्यगुणः षड्द्रव्यवृत्तिः । अस्थ
च स्वाभावसादेश्यमुपलभ्यमानमंशभेदप्रयुक्ततया न विरोधावहम् । स^१ कार्या-
कार्यभेदाद्द्विविधः । पूर्वः परिमितानामुभयप्रेरणात् । यथा मेषयोर्मल्लयोर्वा ।
कचिदन्यतरप्रेरणात् । यथा स्थाणुश्येनयोः संयोगः । केचित्संयोगजसंयो-
गमपि वर्णयन्ति । हस्तपुस्तकसंयोगात्कायपुस्तकसंयोग इति । तन्न । हस्तै-
संयोगादेव कायसंयोगस्य जातत्वात् । एतेन विभागजविभागो निरस्तः ।

विन्यपि पाक इति पिठरपाकवादिनो नैयायिकाः । तदुभयमपि नास्माकं संम-
तम् । परमाणूनां प्रागेव निरस्तत्वादवयवातिरिक्तावयविनोऽसत्त्वाच्च । किंतु विभ-
केष्वेवावयवेषु पाक उत संयुक्तेष्वपीत्येव चिन्ता । तत्र चास्माभिर्निसंभवमुभयमपि
स्वी क्रियत इति बोध्यम् ।

संयुक्तेति । यत्तु द्रव्यस्वरूपमेव संयोगो न पदार्थान्तरमित्याहुः । तन्न । तथा सति
वियुक्तयोरपि स्वरूपानपायात्संयुक्तप्रत्ययः स्यात् । बौद्धाश्च नैरन्तर्यमात्रमेव संयोग
इत्याहुः । तत्र नैरन्तर्यं नामान्तरालाभावः । स चाऽऽसन्नदेशसंयोग एव । अभावस्य
भावान्तररूपत्वात् । तथा च संयोगोऽवश्यं स्विकार्य एव । किंच संयोगस्य सार्व-
त्रिकोपजीवनेन सर्वैरनपवाद्यत्वमेव । यतः प्रकृतिपुरुषसंयोगाद्विश्वसृष्टिः । तादृशैरेव
संयोगविशेषैर्ब्रह्मादिस्तम्भपर्यन्तं जगद्वैषम्यम् । इन्द्रियार्थसंयोगाद्विविधा मतिः । जला-
दिसंयोगाद्बीजेऽङ्कुरोत्पत्तिः । पवित्रवस्तुसंयोगात्सुखम् । अपवित्रवस्तुसंयोगाद्दुःख-
मिति संयोगकार्याणि सर्वत्रानुभूयन्ते । स्वाभावोति । स्वस्य संयोगस्य योऽभावस्तेन
सह संयोगस्य सादेश्यम् । समानो देशो यस्य स सदेशस्तस्य भावः सादेश्यम् ।
सामानाधिकरण्यमिति यावत् । यस्मिन्वृक्षे कपिसंयोगस्तस्मिन्नेव वृक्षे तदभावो
यद्यप्युपलभ्यते तथाऽपि न विरोधः । संयोगस्याग्रावच्छेदेन तदभावस्य च मूलाव-
च्छेदेन सत्त्वात् । एकदेशावच्छेदेन द्वयोर्युगपत्प्रतीतौ हि विरोधः । नात्र तथेति
भावः । कार्याकार्येति । कार्योऽनित्यः । अकार्यो नित्यः । हस्तसंयोगादेवेति ।
हस्तसंयोग एव कायसंयोगः । हस्तादिव्यतिरिक्तस्यावयविनोऽभावात् । किंच
व्यतिरिक्तावयविस्विकारेऽपि हस्तसंयोगाद्भिन्नः कायसंयोगो न सिध्यति । येन हेतुना
यदैवावयवः संयुज्यते तेनैव हेतुना तदैवावयव्यपि संयुज्यताम् । न हि हस्तपुस्तकसं-
योगानन्तर्यं देवदत्तपुस्तकसंयोगस्योपलभ्यते ।

१ क. 'भेदेनैवप्र' । २ क. ख. स कार्यभे' । ग. स च का' । ३ ग. 'स्तपुस्तकसंयोगादे-
वोपपत्तेः । एते' । ४ व. 'योगो हस्तस्य कायत्वात् । एते' । ५ ग. 'नोऽपि नि' ।

विभागोऽपि संयोगाभाव एव न पृथग्गुणः ।

अकार्ययोगस्तु विभुद्रव्ययोः । अजद्रव्यसंयोगः श्रुत्याऽङ्गी क्रियते । अनुमानादप्यजसंयोगसिद्धिः । यथा विभुद्रव्यं विभुद्रव्यसंयोगवद्द्रव्यत्वाद्धटवत् । विभुद्रव्यमीश्वरसंयुक्तं द्रव्यत्वाद्धटवत् । ईश्वरः कालादिसंयुक्तः,

विभागोऽपीति । परस्परसंयुक्ते द्रव्यद्वये विद्यमाने सति समुपगतो यः संयोगनाशः स एव विभागव्यवहारविषयः । न तु नैयायिकाभ्युपगतो विभागो नाम कश्चिद्गुणोऽस्ति । न च संयोगविनाशकत्वेन विभागः स्वीकार्य इति वाच्यम् । विभागकारणत्वेन कल्पितात्कर्मण एव संयोगनाशोपपत्तेः । न च संयोगनाशे जातस्य संयोगनाशस्याविनाशित्वेन पुनः संयोगेऽपि विभक्तप्रत्ययः स्यादिति वाच्यम् । त्वन्मते विभागाभावेन विभक्तप्रत्ययाभावेऽपि संयोगनाशस्य सत्त्वेनासंयुक्तप्रत्ययप्रसङ्गात् । अथ पुनर्जातः संयोगोऽसंयुक्तप्रत्ययप्रतिबन्धक इति चेत्स एव विभक्तप्रत्ययस्यापि प्रतिबन्धकोऽस्तु । न च संयोगजनकस्य कर्मणः संयोगनाशजनकत्वमनुपपन्नमिति वाच्यम् । रूपादिजनकतयाऽभ्युपगतस्याग्निसंयोगस्य रूपादिनाशकत्वाभ्युपगमात् । ननु सिद्धान्तेऽभावस्य भावान्तररूपत्वेन संयोगनाशः किंस्वरूप इति चेदुच्यते—उत्तरदेशसंयोग एव पूर्वदेशसंयोगनाशः । उत्तरदेशसंयोगस्य पूर्वदेशसंयोगेन सह विशेषादुत्तरदेशसंयोग एव पूर्वदेशसंयोगविरुद्धत्वेनाऽऽलोचितः पूर्वदेशसंयोगनाश इति परिस्फुरति । न चोत्तरदेशसंयोगस्य भावरूपेण प्रतीतिः कथमिति वाच्यम् । द्विविधा ह्युत्तरदेशसंयोगप्रतीतिः । ज्ञातपूर्वदेशसंयोगस्य तद्विरुद्धत्वेनैका । स्वरूपेण चापरा । तत्र ये स्वरूपेण प्रतिपद्यन्ते ते भावरूपेणाभिमन्वते । ये पुनः पूर्वदेशसंयोगविरुद्धत्वेन प्रतिपद्यन्ते ते त्वभावरूपेणेति बोध्यम् ।

विभुद्रव्ययोरिति । तयोरसंयुक्तत्वे तु सान्तरत्वप्रसङ्गः । न च निरवयवस्य विभुद्रव्यस्य कथं संयोगः । संयोगस्यैकदेशवर्तित्वसामर्थ्यादिति वाच्यम् । औपाधिकंशभेदकल्पत्या तन्निर्वाहात् । ननु संयोगस्यान्यतरकर्माभ्यकर्म वा हेतुः । तदभावेन विभुद्रव्ययोर्न संयोग इति चेन्न । विभुद्रव्यसंयोगस्य नित्यत्वेन कारणसापेक्षत्वाभावात् । श्रुत्येति । ' सर्वव्यापी च भगवान् ' (श्वे० ३ । ११) ' अन्तर्बाहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ' (ना० ११ । ६) इत्यादिश्रुतयो द्रष्टव्याः । कालादिसंयुक्त इति । न च कालसंयोगे कालकार्यत्वप्रसङ्ग इति वाच्यम् । तस्यापि तदधीनविकारत्वात् । तदुक्तम्—

कालः संपच्यते तत्र न कालस्तत्र वै प्रभुः । इति ।

द्रव्यत्वाद्दृष्टवदित्यादिभिर्विभुसंयोगसिद्धिः । अथ शक्तिः—सर्वकारणानां कारणत्वनिर्वाहकः कश्चिद्रव्यविशेषः शक्तिः । तर्कागमाभ्यां तत्सिद्धेः । प्रतिबन्धकमणिमन्त्रादिसंनिधौ स्वरूपसहकारिवैकल्याभावेऽपि यदुपरोधाद्-हनो न दहति सा ह्यतीन्द्रिया शक्तिः । अयस्कान्तादिषु तत्सिद्धिः । सा शक्तिः षड्द्रव्यवृत्तिः । भगवन्निष्ठत्वं पुराणरत्नादिषु प्रसिद्धम् । एवं सर्वत्रापीति शक्तिर्नाम धर्मविशेषः सिद्धः ।

ननु चतुर्विंशतिप्रकारा गुणा इत्युक्तत्वात्कथं दशैवेति निर्दिश्यत इति चेदुच्यते—जीवात्मविशेषगुणानां बुद्धिसुखदुःखच्छाद्वेषप्रयत्नानां षण्णां

किंच यथा मूर्तगतविकारविशेषसिद्धार्थं विभुसंयोग उक्तस्तथैव कालादिगत-विकारसिद्धार्थमपीश्वरसंयोगोऽवश्याभ्युपेयः । अन्यथेश्वरशरीरत्वमपि कालादेर्न स्यात् ।

तर्कागमाभ्यामिति । तत्र तर्कमाह—प्रतिबन्धकेति । अगमस्तु—

शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्या अपृथक्स्थिताः ।

(अहि. सं.) इत्यादिर्द्रष्टव्यः । अयस्कान्तादिष्विति । आदिना दुंदुभिस्त्वना-दयः । ननु शक्तिः शक्तिविशिष्टा न वा । नाऽऽद्यः । तस्या अपि शक्तेः शक्ति-विशिष्टत्वेनानवस्थापातात् । नान्त्यः । तथा सति तस्याः कारणत्वं न स्यात् । अशक्तत्वात् । अन्यथा सिकताभ्योऽपि तैलमुत्पद्येतेति चेन्मैवम् । शक्त्यन्तराभा-वेऽपि कारणानां कार्यानुगुण्यरूपतया तस्याः सिद्धत्वात् । अन्यथोष्णत्वमुष्णं न वा । आद्येऽनवस्था । अन्त्ये कार्यं न जनयेच्छीतवदित्यादिप्रसङ्गात् । षड्द्रव्यवृत्तिरिति । तदुक्तमात्मसिद्धौ (पृ० ११) सर्वद्रव्येषु तत्कार्यसमाधिगम्यस्तत्प्रतियोगिश-क्त्याद्यो गुणः साधारण इति । न चाद्रव्येषु रूपरसादिषु शक्त्यभावेन कथं तेषां कारणत्वमिति वाच्यम् । रूपरसाद्यधिकरणीभूतद्रव्यनिष्ठैव शक्त्या रूपादिसमाना-धिकरणया तेषां शक्तत्वात् । केचित्तु रूपादिष्वपि शक्तिमिच्छन्ति । पुराणरत्ना-दिष्विति । तदुक्तं विष्णुपुराणे (१ । ३ । २)—

शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः ।

यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः ॥

भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता ॥ इति ।

चतुर्विंशतिप्रकारा इति । यद्यपि 'रूप १ रस २ गन्ध ३ स्पर्शाः ४ संख्या ५ परिमाणानि ६ पृथक्त्वं ७ संयोग ८ विभागौ ९ परत्वा १० परत्वं ११ बुद्धयः १२ सुख १३ दुःखे १४ इच्छा १५ द्वेषौ १६ प्रयत्ना १७ श्रु गुणाः' (क. सू. १।१६) इति सूत्रे सप्तदश गुणा उक्तास्तथाऽपि तत्सूत्रस्थचकारेणानुक्तसमुच्चया

१ ग. 'वैत्रापि शक्तिनामकध' । घ. 'वै त्रय' ।

ज्ञानविततिरूपत्वेन ज्ञानान्तर्भावस्योक्तत्वात्, धर्माधर्मयोरपीश्वरप्रीत्यप्रीतिरूपत्वेनेश्वरज्ञानेऽन्तर्भावात्, भावनाख्यसंस्कारस्य ज्ञानविशेषरूपत्वात्, वेगो-

र्थकेन गुरुत्व १८ द्रवत्व १९ स्नेह २० संस्कार २१ घर्मा २२ धर्म २३ शब्दा-
२४ नां संग्रह इत्युपस्कारविवृत्योरुक्तत्वाच्चतुर्विंशतिप्रकारा इत्युक्तम् । ज्ञानान्त-
र्भावस्येति । अत एवाऽऽहुः—

इच्छाद्वेषप्रयत्नादिशब्दैर्धरभिधीयते ।

अर्थभेदानुविद्धास्ते धीविशेषाः प्रकीर्तिताः ॥ इति ।

इच्छादिहेतुभूतानुकूलादिविषया बुद्धिरेवेच्छादिव्यवहारमातनोति । तदतिरिक्तक-
ल्पने न कोऽपि लामः । गौरवदोष एव लभ्यते । न च ज्ञानेच्छादीनां पर्यायत्वं
स्यादिति वाच्यम् । यथा ज्ञानत्वाविशेषेऽपि प्रत्याभिज्ञास्मृत्यनुमित्यनुभवादिभेदेषु न
पर्यायत्वं तद्वदत्रापि वक्तुं शक्यत्वात् । अन्यथेर्ष्याभ्यसूयाभयधृतिकरुणाशान्तिदुष्ट्या-
दिव्यवहाराणामपि विषयलभार्थमर्थांतरं कल्प्यं स्यात् । यद्यपि पादयोर्मै दुःखमित्या-
दिव्यवहारात्सुखदुःखयोः शरीरधर्मत्वं प्रतीयते तथाऽपि तदौपचारिकम् । मृतशरी-
रेऽनुपलम्भात् । तथा च तयोरात्मधर्मत्वेन धीविशेषत्वमुपपन्नम् । धर्माधर्मयोरिति ।
चिरध्वस्तस्य कर्मणः कालान्तरभाविफलानुगुणं किमपि द्वारमदृष्टारुणमुपादेयम् । तच्चा-
न्तःकरणपरिणतिरिति सारुयाः । चेतसो वासनेति सौगताः । पुंघर्म इति न्यायवादिनः ।
विभुरूपं किमपि तत्त्वान्तरमिति जनैकदेशिनः । पुद्गलरूपमिति तत्सयूय्याः । एतच्चि-
न्त्यम् । प्रमाणाभावात् । गौरवाच्च । किंतु तत्तत्कर्माचरणपरिणतेश्वरबुद्धिविशेष
एवादृष्टम् । अत एव ' स एवैनं मूर्तिं गमयति ' (तै० सं० २।१।१) ' स एनं
प्रीतः प्रीणाति ' (तै० सं० ९।७।४) ' एष ह्येव साधु कर्म कारयति तम् ' (कौ.
३।८) ' क्षिपाम्यजलमशुभान् ' (गी० १६।१९) इत्यादिप्रीति-
कोपाभ्यां फलप्राप्तिरभिधीयते । एतेन शरीरादिकं भोक्तृविशेषगुणपेरितभूतपूर्वकं
तद्भोगसाधनत्वात्स्वगादिनादिति सिद्धे ज्ञानाद्यनुपपत्तेः परिशेषाज्जीवसमवेतादृष्टसिद्धि-
रिति वैशेषिकाद्युक्तमपास्तम् । अस्मदुक्तादृष्टदेव नियमोपपत्तेर्विपक्षे बाधकाभावात् ।
ज्ञानविशेषेति । संस्कारो हि धर्मभूतज्ञानस्यावस्थाविशेषः । स्मृत्यादिवत् ।
ज्ञानस्य द्रव्यत्वेन तस्यावस्थावत्त्वमुपपद्यते । तत्राऽऽत्मा निर्विकारः । धर्मभूत-
ज्ञानं तु सविकारम् । तच्चाऽऽत्मनो नित्यासाधारणधर्मः । तेन धर्मभूतज्ञानगताः
सर्वे विकारा ज्ञानद्वारा ज्ञानाश्रयात्मपर्यन्तं व्यवहियन्त इत्याहुः । वेगोत्पाद-
कोति । शीघ्रं गच्छतीत्यादिषु कर्मातिशयविशेषादितरो वेगो नाम कश्चिद्गुणो
नोपलभ्यते । अतिरिक्तवेगयाद्यपि धर्मभेदाद्वैभेदं कथयति । तथा च यादृशकर्मभेदा-

त्पादकहेतोरेव वेगाख्यसंस्कारोपपत्तेः, संयोगमादाय स्थितिस्थापकस्थापि संभवात्, शब्दादिगन्धान्तानां प्रत्यक्षसिद्धत्वेनाङ्गीकारात्, विभागपृथक्त्वयोरपि संयोगाभावमादायोपपत्तेः । परत्वापरत्वयोर्देशकालसंयोगविशेषमादायोपपत्तेः, संख्यापरिमाणद्रवत्वस्त्रेहानां तत्तद्द्रव्यस्वरूपमादायोपपत्तेः,

द्वेगभेदः परिकल्प्यते स एव कर्मभेदो वेग इत्युच्यतामिति भावः । संयोगमिति । ननु शाखाकोदण्डचर्मप्रभृतिष्वाकर्षणादौ सति कुतश्चित्कारणविशेषाद्भूयः स्वस्थानावस्थानं भवति स कारणविशेषः स्थितिस्थापक इत्यङ्गीकर्तव्य इति चेन्न । नियतसंस्थानविशेषस्यैव तत्र कारणत्वात् । न च स्थितिस्थापकविशेषाभावे परावर्तने द्रौत्यविलम्बादिकं कथमिति वाच्यम् । तत्तत्स्थितिस्थापकविशेषनियामकेन तत्तत्संस्थानविशेषेणव तत्संभवात् । सर्वदा क्रियोत्पत्तिप्रसङ्गः । कर्षणमोक्षणादिसहकारिसाहित्येन परिहारश्चोभयोस्तुल्य एव । विभागेति । उपपादितमेतत्संयोगनिरूपणे । पृथक्त्वोति । सर्वार्थसिद्धिकारास्तु ' व्यवहार एव खल्वर्थतत्त्वविभागे निदानम् । यद्भिन्नमिति व्यवहियते तदेव पृथगिति । यत्पृथागिति व्यवहियते तदेवेतरदिति । अत एषां शब्दानां पर्यायत्वाद्भेदातिरेकेण पृथक्त्वं नाम न काश्चिद्धर्मः कल्पनीयः । भेदश्च नीलपीतादिरत्नाधारणो धर्म एव । तथा च सर्ववस्तूनां परस्परव्यावर्तकासाधारणधर्म एव पृथक्त्वं स एव च भेदः' इत्याहुः । परत्वापरत्वयोरिति । न च परत्वापरत्वयोर्दिक्कालसंयोगविशेषस्वरूपत्वे तयोः प्रत्यक्षविषयत्वं न स्याद्विक्कालयोरप्रत्यक्षत्वादिति वाच्यम् । आकाशस्वरूपाया दिशः कालस्य च प्रत्यक्षत्वस्य प्रागुपपादित्वात् । संख्येति । तार्किकास्तु—एकव्यादिप्रतीतिव्यवहारविषयो यो गुणः सा संख्या । सा पुनः परमाण्वादौ नित्या । वृणुकत्र्यणुकादौ तु तत्तत्कारणगतैरेकत्वैर्जन्यते । द्वित्वान्नित्वादिकं त्वनेकावगतिसहकृतैकैकानिष्ठैकत्वजन्यम् । सा चावगतिरपेक्षाबुद्धिरित्युच्यते । सा चापेक्षाबुद्धिस्तत्तत्पुरुषमात्रनिष्ठेति तज्जन्यद्वित्वान्नित्वादिकं तत्तत्पुरुषैरेवानुभूयते । क्षणिकं च तत् । तत्कालमात्रभावित्वादित्याहुः । तत्रेदमुच्यते—यादृशापेक्षाबुद्धिविषयाद्वित्वाद्युत्पत्तिस्तादृशापेक्षाबुद्धिविषयवस्तुविशेषोपलम्प एव द्वित्वादिव्यवहारमातनोतु । किमतिरिक्तद्वित्वादिकल्पनेन । न ह्यपेक्षाबुद्धिर्निर्विषया । अज्ञानत्वप्रसङ्गात् । नापि प्रकृतानुपयोगिवस्तुविषया । प्रकृतसंगतिप्रसङ्गात् । तथा च सविषयत्वे प्रकृतसंगतत्वे च सिद्धे योऽयं विषयविशेषः स एव द्वित्वादिन्यवहारमातनोतु । अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम् । इतरथाऽतिरिक्तसंख्याकल्पनेऽपि संख्याया गुणत्वेन

गुरुत्वस्य शक्यन्तर्भावस्य वक्तुमुचितत्वाच्च दशैवेति सुष्ठुक्तम् ।

सत्त्वरजस्तमांसि प्रकृतिगुणास्तत्संबन्धिजीवगुणाश्च । सत्त्वरूपं ज्ञानं सात्त्विकः काल इत्यादिप्रतीतिरुपाधिवशादौपचारिकी । शब्दादयः पञ्च प्रकृतिकार्यपञ्चमहाभूतगुणत्वेन प्रसिद्धाः । शुद्धसत्त्वं तु त्रिपाद्भिभूत्यां तत्प्र-
वर्तकेश्वरे च । संयोगशक्तिरूपौ गुणौ षड्द्रव्यसाधारणाविति विवेकः । इत्थद्रव्यं निरूपितम् ॥

इति श्रीवाधूलकुलतिलकश्रीमन्महाचार्यस्य प्रथमदासेन श्रीनिवास-
दासेन विरचितायां यतीन्द्रमतदीपिकायां जीव-
निरूपणो नाम दशमोऽवतारः ॥१०॥

====

गुणस्य च द्रव्यमात्रवृत्तित्वेन गुणगतायाश्चतुर्विंशतिसंख्यायाः कर्मगतायाः पञ्चत्वसं-
ख्यायाश्चानुपपत्तेः । तत्राऽऽश्रयद्वारा संख्याकल्पनेऽपि गुणाश्रयाणां चतुर्विंशतित्वमेव
कर्माश्रयाणां पञ्चत्वमेवेत्यत्र नियामकाभावः । पृथिव्यप्तेजोवायुमनसां पञ्चानामेव कर्मा-
श्रयत्वेऽपि न तत्पञ्चत्वमुत्क्षेपणादिभेदेन पञ्च कर्माणीति वदद्भिः कटाक्षीकृतम् ।
एकत्वं च कार्यभूतं नास्त्येव । अवयवातिरिक्तस्यावयविनः कार्यस्याभावात् । संघातैक्यं
तु राशिवदौपचारिकमेव । नित्यमप्येकत्वं भेदाभावरूपं नातिरिक्तमिति केचित् ।
अत एवैकत्वविवरणे प्रवृत्ता भेदाभावरूपतयैकत्वं विवृण्वन्ति । एकत्वभ्रमो भेदादर्श-
नादभूदिति च भ्रान्तिविषये व्यवहरन्ति । स्वसत्त्वमेवैकत्वं तच्चेतरसद्भावेऽपि वर्तत
इत्यन्ये । परिमाणमपि नातिरिक्तम् । किंतु देशव्याप्तिविशेष एव तत्तत्प्रतिसंबन्धि-
निरूपितस्वरूपेण तत्तत्परिमाणमिति वदन्ति । द्रवत्वमपि तत्तद्द्रव्यसंस्थानविशेषस्वरू-
पमेव नातिरिक्तम् । तावतैव स्यन्दनोपपत्तेः । स्नेहोऽपि नातिरिक्तः । किंतु सलि-
लस्वरूपमेव चूर्णादिपिण्डीभावमातनोति । यदि पिण्डीभावसाधनत्वात्सलिले स्नेहाख्यो
गुणः स्वी क्रियते तर्हि विश्लेषसाधनत्वादातपादौ रौक्ष्याख्यं गुणान्तरं किं न कल्प्यते ।
औष्ण्यादिभिरेव विश्लेषश्चेत्पिण्डीभावोऽपि शैत्यादिभिरेव स्यात् । किंच सलिल-
स्यापि क्वचित्पिण्डीभावासाधनत्वं दृश्यते । शुष्कमृत्पिण्डादीनां सलिलसेकेन विलय-
दर्शनात् । तस्मात्सलिलस्वरूपमेव सहकारिविशेषमासाद्य पिण्डीभावसाधनं विश्लेषसा-
धनं च भवतीति यथोपलम्भमङ्गीकार्यम् । चेतननिष्ठः स्नेहस्तु बुद्धिविशेषस्वरूपएवेति
दिक् । गुरुत्वस्येति । गुरुत्वं हि पतनहेतुतया नयायिकैः कल्प्यते । तदसत् । सर्वत्र

एवं द्रविडभाष्य, न्यायतत्त्व, सिद्धित्रय, श्रीभाष्य, दीपसार, त्रेत्रार्थसंग्रह, भाष्यविवरण, संगीतमाला, षडर्थसंक्षेप, श्रुतप्रकाशिका, तत्त्वरत्नाकर, प्रज्ञा-परित्राण, प्रमेयसंग्रह, न्यायकुलिश, न्यायसुदर्शन, मानयाथात्स्यनिर्णय, न्यायसार, तत्त्वदीपन, तत्त्वनिर्णय, सर्वार्थसिद्धि, न्यायपरिशुद्धि, न्यायसिद्धाञ्जन, परमतभङ्ग, तत्त्वत्रयचुलुक, तत्त्वत्रयनिरूपण, तत्त्वत्रयप्रचण्डमारुत, वेदान्तविजय, पाराशर्यविजयादिपूर्वाचार्यमबन्धानुसारेण ज्ञातव्यार्थान्संगृह्य बालबोधार्थं यतीन्द्रमतदीपिकाख्यशरीरकपरिभाषायामस्यां ते प्रतिपादिताः । अध्यात्मशास्त्राणां तत्त्वहितपुरुषार्थप्रतिपादकत्वात्तत्सारेऽस्मिन्नापि प्रकृतिजीवेश्वरपरिच्छेदैस्तत्त्वस्य निरूपितत्वाद्बुद्धिपरिच्छेद उपायस्य निरूपणाभित्यविभूतिपरिच्छेदे ईश्वरपरिच्छेदे च पुरुषार्थस्य निरूपणाच्च तत्त्वोपायपुरुषार्था निरूपिता इति निरवद्यम् । एकं तत्त्वमिति प्रतिपादयन्ति सूरयः । 'आत्माऽमात्मा' इति विभज्य द्वेषा निरूपयन्ति ऋषयः । श्रुत्यनुसाराद्भोक्तृभोग्यनियन्तृरूपतत्त्वत्रयमिति प्रतिपादयन्त्याचार्याः । हेयम्, तस्य निवर्तकम्, उपादेयम्, तस्योपाय इति चतुर्धा विभज्यानुसंदधते केचिदाचार्याः । प्रीत्यम्, प्राप्ता, उपायः, फलं, विरोधीति पञ्चधा निरूपयन्त्यपरदेशिकाः । अर्थपञ्चकमेव संबन्धेन साकं षोढा परिगणय्य वर्णयन्त्ये गुरवः । एतेषां तत्त्वद्विभाजकधर्ममादायानुसंधानमुपपद्यते । वस्तुतस्तु वेदान्तानां चिदचिद्विशिष्टाद्वैतमेकमेव ब्रह्मोति तात्पर्यम् । अत एव चिदचिद्विशिष्टं ब्रह्मैकमेवेति

हेतुत्वनिर्वाहकतयाऽभ्युपगतायाः शक्तेरेवात्रापि स्वीकर्तुमुचितत्वात् ॥

इति श्रीयतीन्द्रमतदीपिकाप्रकाशे दशमोऽवतारः ॥ १० ॥

इति श्रीमद्विद्वन्मुकुटरत्नभास्करशास्त्र्यान्तेवासिसकलविद्यापारंगतरामशास्त्रिच्छात्रेण तत्त्वप्रसादलक्षज्ञानलवप्रोत्साहितेनाभ्यं करोपाह्वासुदेवशास्त्रिणा विरचितो यतीन्द्रमतदीपिकाप्रकाशः समाप्तमगम् ॥

१ ख. प्रजा । २ ग. 'न, दर्शनया' । घ. 'न, नामया' । ३ क. 'रिसिद्धि' । ४ घ. 'यच' । ५ क. ख. 'न्संप्राप्त्य' । ६ क. 'ति द्विधा । ग. 'ति द्वेषा विभज्य नि' । ७ घ. 'न्ति । श्रु' । ८ ग. 'न्तूरूपं त' । घ. 'न्तृत्वरू' । ९ घ. 'यन्त्वाचा' । १० घ. 'पायं च' । ११ ख. प्राप्यप्राप्ताप्राप्त्युपाय' । घ. प्राप्यं प्राप्ताप्राप्त्युपायः । १२ क. घ. 'यन्ति । अर्थ' । १३ क. घ. यन्ति । एते ।

यत्वा भगवान्वादेरायणः 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्युपक्रम्य तमेव प्रकारं निरूपितवान् । अतश्चिदचिद्विशिष्टो ब्रह्मशब्दवाच्यो विष्णुवाच्यः परवासुदेवो नारायण एवैकं तत्त्वमिति विशिष्टाद्वैतवादिनां दर्शनमिति सिद्धम् ॥

इति विविधविचित्रं मानमेयप्रकाशं

यनगुरुवरदासेनोक्तमादाय शास्त्रात् ।

यतिपतिर्मतदीपं वेदवेदान्तसारं

स भवति मतिमान्यः सत्कटाक्षैकलक्ष्यः ॥

इति श्रीमद्वाधूलकुलतिलकश्रीमन्महाचार्यस्य प्रथमदासेन श्रीमद्वेङ्कट-
गिरिनाथपदकमलसेवापरायणस्वामिपुष्करेण श्रीगोविन्दाचार्य-
सूनुना श्रीनिवासदासेन विरचितां यतीन्द्रमतदीपि-
काख्या शारीरकपरिभाषा समाप्ता ॥

THE UNIVERSITY OF CHICAGO
LIBRARY

THE UNIVERSITY OF CHICAGO
LIBRARY

THE UNIVERSITY OF CHICAGO
LIBRARY

अथ यतीन्द्रपतदीपिकोद्धृतानां प्रकाशोद्धृतानां च श्रुतिमूत्रश्लोका-
दीनां वर्णानुक्रमेण सूचीपत्रम् ।

| | पृ० | पं० | | पृ० | पं० |
|---------------|-----|-----|-----------------|-----|-----|
| अ. | | | आपोमयः | ६९ | ६ |
| अकार चा | ९२ | २१ | आप्यायन्ते | २२ | २२ |
| अग्नेः शिवस्य | २९ | २६ | आराग्रमात्रो | १९ | २३ |
| अर्चावतार | ८३ | २५ | आश्रयाद् | ८८ | २३ |
| अत्रायं पु | ७३ | ११ | इ. | | |
| अथ यो ह | ३९ | १५ | इच्छद्वेष | ९८ | ८ |
| अद्रव्यं दश | २ | २१ | इति विविध | १०२ | ६ |
| अध्यवसाया | ३७ | २९ | इतिहास | २९ | ८ |
| अनादिर्भग | ४९ | १८ | इदं सर्व | ३३ | १९ |
| अनियम्यस्य | २३ | २५ | ” | ७३ | १४ |
| अन्तर्बहि | ९६ | २७ | इन्द्रनील | ८६ | १९ |
| अपहतपाप्मा | ७४ | २० | इन्द्रियच्छिद्र | ५३ | १८ |
| अछामे वेद | ३० | २४ | इमामगू | २८ | २७ |
| अविकाराय | ८० | २० | उ. | | |
| अशरीर | ५३ | १९ | उत्क्रान्तिग | ६९ | १५ |
| अहमर्थ | ७१ | १४ | उत्तरोत्त | ८९ | १९ |
| अहिंसास | ६२ | १९ | उत्पत्तिमत्त्वा | ६४ | ७ |
| अष्टमे वर्णि | २ | १९ | उपायभक्तिः | ६५ | १० |
| आ. | | | उपायो भक्ति | ६५ | ८ |
| आगमेना | १७ | १८ | उपासकानुग्र | ८४ | २८ |
| आत्मरुच्यति | ८ | २८ | उपासकानुरो | ८९ | १५ |
| आत्मनः स्वतः | ४ | ११ | ऋ. | | |
| आत्मानम | ५४ | १८ | ऋचः सामा | १६ | २७ |
| आत्मा वा इद | ७९ | २३ | ए. | | |
| आत्मा वा अरे | ६४ | १७ | एक एव | ७४ | २६ |
| आदित्यवर्ण | ४६ | १४ | एकाम्भोनिधि | ८७ | ८ |
| ” | ५२ | २२ | एको ब्रीहिः | ७२ | ५ |
| आनुकूल्यस्य | ६४ | १८ | एतस्माज्जा | ४१ | १७ |
| | | | एतस्मात् | ९८ | २५ |

| | पृ० | पं० | | पृ० | पं० |
|------------------|-----|-----|---------------|-----|-----|
| | | | तत्त्वमसि | १९ | १ |
| ऐश्वर्येण | ८९ | २१ | " | ३३ | १६ |
| क. | | | तत्र प्रत्य | ६३ | १३ |
| कतम आत्मा | ७३ | ११ | तत्र प्रमाण | २४ | १३ |
| कर्ता विज्ञाना | ७२ | २३ | तत्र वृद्धा | ३८ | २४ |
| कर्ता शास्त्रा | ७२ | २६ | " | ६ | २८ |
| काणादं वा | १६ | ३ | तत्रापि य | १ | २२ |
| कार्ये माना | २६ | १८ | तथाऽपि योऽशो | ३० | १३ |
| कालः संप | ९६ | ३० | तथा हेय | ९६ | २५ |
| सिपाभ्यज | ९८ | २३ | तदर्थं लील | ८९ | २२ |
| ग. | | | तदेव वासु | ८९ | २६ |
| गुणाद्वा लोक | ६९ | ३३ | तदेव सदृशं | १२ | १५ |
| गुरुमेवा | ६४ | २४ | तदेवार्थ | ६३ | १५ |
| घ. | | | तद्विष्णोः पर | ५२ | २४ |
| घटधर्मै | ७४ | २७ | तमः संसर्ज | ४२ | १८ |
| च. | | | नमेवं विदि | ६१ | १२ |
| चतुर्भुज | ८६ | २१ | तयोर्ध्वमा | ६१ | २८ |
| चतुर्भुज | ९४ | २४ | नस्माह्लोका | ६९ | १९ |
| चेतश्चक | ९५ | ३ | तस्मिन्सति | ६२ | २३ |
| ज. | | | तस्य ह वा | ९१ | २२ |
| जननमरण | ७२ | १० | तस्यात्मपर | ७० | ११ |
| जम्बुद्वीपं | ४८ | २७ | नामां त्रिवृ | ४४ | ९ |
| जीवान्विसस | ७१ | २ | तृतीये प्रभि | २ | १५ |
| ज्ञ ज्ञो द्वावजा | ७० | २६ | तेजसा नि | ८५ | २५ |
| ज्ञानमस्तीति | ५६ | १७ | तेजोमयि वाक् | ६९ | ७ |
| ज्ञानिनो मि | ७४ | २५ | तेन प्रद्यो | ६९ | १७ |
| ज्वलत्पर | ८७ | १६ | त्वं हि रुद्र | ३१ | ७ |
| स. | | | त्रिशच्च न | ८७ | १८ |
| त एते सर्व | ३९ | १४ | द. | | |
| तच्छास्त्रे | ६१ | २३ | दशावतारा | २ | ११ |

| | | पृ० | पं० | | | पृ० | पं० |
|----------------|------|-----|-----|-----------------|------|-----|-----|
| दीपिकाऽपि | ... | १ | १२ | प. | | | |
| दूर शब्दः | | ९२ | १५ | पञ्चदश रात्रा | ... | ३३ | २४ |
| देवत्वं देव | | ८९ | ११ | पञ्चमे लक्षि | ... | २ | १७ |
| देवा वा म | ... | ८७ | १४ | पञ्चरात्रस्य | | ३० | १९ |
| देशबन्ध | ... | ६२ | २८ | पञ्चरूपा तु | | १४ | २६ |
| देहेन्द्रियमनः | ... | ७० | ९ | पण्डिताः स | | ७४ | ३१ |
| | न, | | | पतिव्रता ध | ... | ८८ | ९ |
| न खल्वह | ... | ६७ | २५ | पदानां त | ... | २६ | २० |
| न जायते | | ७० | २८ | परवित्ता | | १९ | २६ |
| न तत्र रथा | | १२ | २० | परित्राणाय | ... | ८८ | १३ |
| न तीक्ष्णाधि | ... | १ | १४ | पाञ्चरात्रं | | ३० | २१ |
| न तु तद्धृ | | ९२ | १५ | पुंस्त्वादिषु | ... | ९८ | १६ |
| नमस्ते वायो | | ९१ | २० | पृथगात्मा | ... | ७४ | २८ |
| नववर्षे ... | | ४८ | २५ | प्रकृतेः क्रिय | | ७२ | २७ |
| न विज्ञातु | | ७३ | २२ | प्रजापतिः प्रजा | | ७० | ३० |
| " | | ९६ | १९ | प्रज्ञया घ्राणं | ... | ६९ | ३१ |
| नानात्मानो | | ७२ | ८ | प्रज्ञा च त | | १७ | ९ |
| नानावीर्याः | | ४७ | १२ | प्रणम्य पर | | १ | १० |
| नासदासी | ... | ४९ | १६ | प्रतिबन्धां | ... | ९८ | १० |
| निगूहनं | | ८९ | १० | प्रतिमन्वन्तरं | ... | १६ | २५ |
| नित्यः सर्वगतः | | ७० | ६ | प्रदीपवदा | ... | ७० | २१ |
| नित्या सा य | | ७३ | २४ | प्रमाणं प्रथमे | | २ | १६ |
| नित्यैवैषा | ... | ८९ | ९ | भागमन् | | ३९ | १८ |
| नित्यो नित्या | | ७१ | २९ | व. | | | |
| नित्यो व्यापी | | ७२ | २१ | वलेन हर | | ८९ | १९ |
| निरञ्जनः | | ७८ | १९ | वालाप्रशत | | १९ | २१ |
| निर्मलम् | ... | ७४ | १३ | वेमर्ति य | ... | १९ | २० |
| नेह नाना | | ७२ | १४ | बुद्धे क्षेम | | ११ | २२ |
| नैकस्मिन्न | | ७४ | ७ | बुद्धे चेत्क्षे | | ६१ | २२ |
| | | | | ब्रह्म वा इदं | | ७९ | २१ |

| | पृ० | पं० | | पृ० | पं० |
|-----------------|-----|-----|-----------------|-----|-----|
| ब्रह्म वेद | ७८ | २३ | यत्रास्य पु | ३९ | १९ |
| ब्रह्माण्ड | २९ | २१ | यत्साक्षादप | १९ | १४ |
| ब्रह्मेत्युपासी | ७२ | २४ | यत्त्वनुभूतेः | ९६ | १२ |
| ब्राह्मणक्ष | ३० | २६ | यथा चोल | ९२ | १३ |
| | म. | | यथा न क्रिय | ९६ | २१ |
| भक्त्या त्वन | ६१ | ९ | यथोदपान | ९६ | २३ |
| भद्राश्वं पू | ४८ | २३ | यदग्ने रो | ९३ | ३० |
| भारतं प्रथ | ४८ | १८ | यदाश्रित्यै | ८९ | १७ |
| भूतादिभि | ९४ | २२ | यद्यन्योऽस्ति | ६४ | २९ |
| भूपद्मस्या | ४८ | १७ | ” | ७९ | १६ |
| भुरिस्त्येक | ९२ | १८ | यस्याऽऽत्मा | ७२ | ३२ |
| भोक्ता भोक्त | ७१ | ३१ | यस्य वेदाः | ९२ | २४ |
| | म. | | यानीन्द्रिया | ९९ | १८ |
| मञ्जतिरिच | १ | १८ | यावन्न वि | ६१ | २७ |
| मम प्रकराः | ८३ | २३ | या वै न जातु | ८४ | ११ |
| मम साधर्म्य | ७२ | १८ | ये च वेद | २७ | २४ |
| ” | ७८ | २० | ये वै के चा | ६९ | १८ |
| मात्स्थं कौर्म | २९ | २३ | यो अस्याध्यक्षः | ९२ | २२ |
| मित्रामित्र | ७४ | ३२ | योगाचारा | ९ | ३ |
| मोक्षं सालो | ७९ | १० | योगाम्यास | ७३ | १० |
| | य. | | | र. | |
| य आत्मनीति | ९० | ६ | रचनानुप | ९० | १३ |
| य आत्मान | ८८ | १९ | रम्यकं चोत्तरं | ४८ | २० |
| यजेत स्वर्ग | ७२ | २४ | राजसेषु च | २९ | २७ |
| यतः कुतः | ४९ | २९ | | ल. | |
| यतीश्वरं | १ | ७ | लोकनाम | ८७ | १२ |
| यतो वा | ३१ | १८ | लोकेषु वि | ७८ | २९ |
| ” | ७० | ३१ | | व. | |
| यत्र पूर्वं | ८४ | १७ | वाक्येऽवधारणे | ६६ | १२ |
| यत्रागः | ८४ | १८ | वाचा विरुतौ | १६ | १७ |

| | पृ० | पं० | | पृ० | पं० |
|-----------------|-----|-----|---------------------|-----|-----|
| षायुर्वे क्षेपि | २८ | १२ | सच्छिद्रत्वा | ६८ | ९ |
| वासुदेवः | ८९ | २० | सत्त्वे न भ्रान्ति | ११ | ९ |
| विज्ञानघन | ७१ | १६ | सदा पश्यन्ति | ७२ | १७ |
| विद्या कालो | ४९ | १९ | सदृशादृष्ट | ७ | ७ |
| विद्याचोरो | १७ | १४ | स देवसो | ४९ | १५ |
| विद्याधिदे | ८७ | ६ | " | ५२ | ७ |
| विभवाः प | ८७ | ४ | " | ७१ | ३ |
| विभवोपासने | ९० | ८ | " | ७९ | २१ |
| विरोधे गुण | २८ | १७ | मन्मूलाः सोम्य | ७० | १३ |
| विष्णुशक्तिः | ७० | २५ | सर्गश्च प्र | २९ | १५ |
| वेणुरन्ध्र | ९१ | २५ | सर्वव्यापी | ९६ | २६ |
| वैकुण्ठे तु | ८४ | २० | सर्वातिशय | ८८ | २४ |
| वैकुण्ठे तु | ८४ | १३ | पहस्रस्थूणे | ५२ | २३ |
| वैष्णवं ना | २९ | १८ | मात्त्विकानि | २९ | २० |
| व्याप्यव्यापक | १८ | १७ | मात्त्विकेष्वथ | ३० | ४ |
| | | | साधनं भगवत्प्राप्तौ | ६५ | ६ |
| श. | | | सुनं पतन्तं | ९३ | १८ |
| शक्तयः सर्व | ९७ | १३ | सूर्यकोटि | ८४ | २३ |
| शक्त्या जग | ८५ | २३ | सोऽप्रयुक्तोऽपि | ६६ | १९ |
| शौचसंतोष | ६२ | २० | सोमाभावे | १२ | १७ |
| श्येनेनाभि | २७ | १७ | सोऽरोदीत् | २८ | १३ |
| श्रीपतिर्म | ८७ | १० | स्तम्भः स्तम्भः | ५७ | २७ |
| श्रीभाष्यादि | १ | २० | न्यिरसुख | ६२ | २१ |
| श्रीवत्ससं | ५४ | २० | स्मृतिः प्रत्यक्ष | ७ | २९ |
| श्रीवेङ्कटेशं | १ | ५ | स्वधीविशेषं | ५६ | १५ |
| | | | स्वरूपमणु | १९ | २४ |
| स. | | | स्वमत्ताभास | ५२ | ५ |
| स एनं प्रीतः | ९८ | २१ | स्वस्वविषय | ६२ | २५ |
| स एवैनं | ९८ | २१ | | | |
| संकर्षणो | ८९ | २४ | ह. | | |
| संमवामि | ८७ | २६ | हृदयस्थानां | ३७ | २७ |
| संस्थानानि | ३५ | ११ | हृदय ते | ८४ | १९ |
| स चानन्त्याय | ७० | ५ | | | |
| " | ७० | २३ | | | |

अथास्मिन्नन्येऽभिहितार्थानां विशेषशब्दानां वर्णानुक्रमेण
सूचीपत्रम् ।

| अ. | | पृ० | पं० | | | पृ० | पं० |
|------------------|------|-----|-----|------------------|------|-----|-----|
| अख्याति | | १० | ७ | अवृथक्सिद्धत्व | | ४४ | १३ |
| अजडत्व | | ५१ | ८ | अप्रकाश | | ९१ | १८ |
| ” | | ७३ | १५ | अप्रवृत्ति | | ९१ | १८ |
| अणुत्व | ... | ३९ | १३ | अत्राघितविषयत्व | | १९ | १४ |
| अतिव्याप्ति | | ४ | ४ | अभिःश्या | | ६३ | २४ |
| अतिशयित | | ४ | ६ | अभिनिवेश | ... | ६० | १२ |
| अथर्वन् | | २७ | २७ | अभ्यास | | ६३ | २ |
| अदृष्ट | ... | ७५ | ४ | अयन | | ५० | १८ |
| अद्रव्य | | ९० | १ | अर्चावतार | | ३ | १० |
| अधैर्य | | ६९ | २३ | ” | ” | ८८ | ५ |
| ऊनन्त | | ८३ | ९ | अर्थवाद | | २७ | ११ |
| अनभिध्या | | ६३ | २५ | अर्थापत्ति | ... | २३ | ५ |
| अनर्वाचीन | ... | ६ | ६ | अर्थार्थिन् | | ७६ | १८ |
| अनवसाद | | ६३ | ४ | अव्याप्ति | | ४ | २ |
| अनिर्वचनीयख्याति | | ११ | ४ | अशम | | ९१ | १६ |
| अनुद्धर्ष | ... | ६३ | ४ | असंभव | | ४ | ४ |
| अनुमान | | १८ | ३ | असत्ख्याति | | ९ | २७ |
| अनुमिति | | १८ | २ | असत्प्रतिपक्षत्व | | १९ | १५ |
| अनैकान्तिक | | २२ | १ | असाधारण | ... | २२ | ३ |
| अन्तर्यामित्व | | ८८ | २ | असिद्ध | | २१ | ८ |
| अन्यथाख्याति | | १० | २१ | असूया | | ६० | २२ |
| अन्यथाज्ञान | | ३ | २० | अहिंसा | ... | ६३ | २३ |
| अन्वय | | १८ | १५ | आ. | | | |
| अन्वयव्यतिरेकिन् | | १९ | १७ | आकरज | | ४२ | ६ |
| अन्वयव्याप्ति | | १८ | ८ | आकाङ्क्षा | ... | ३२ | १९ |
| अप् | | ४२ | १३ | आकाश | | ४० | ९ |
| अपूर्वविधि | ... | २८ | २२ | मात्मख्याति | | ९ | ५ |
| | | | | मात्मत्व | | ६७ | ४ |

| | | | पृ० | पं० | | | | पृ० | पं० |
|------------|------|------|-----|-----|-----------------|------|------|-----|-----|
| आधेयत्व | ... | | ६७ | १४ | | | | | |
| " | | | ४४ | १२ | ऋच् | ... | | २७ | २६ |
| आनन्द | ... | | ६० | १३ | ऋतु | | ... | १० | १८ |
| आयुर्वेद | ... | | ३१ | ४ | | | | | |
| आरम्भ | ... | ... | ९१ | १५ | एकान्तिन् | | | ७७ | १२ |
| आर्जव | ... | ... | ६० | १३ | | | | | |
| " | | | ६३ | २१ | ऐश्वर्य | | ... | ६० | ८ |
| आर्त | ... | | ७६ | १८ | " | | | ८९ | ९ |
| " | | | ७७ | १६ | औदर्व | ... | | ४२ | ६ |
| आलम्बन | | | ६३ | २० | औदार्य | | ... | ६१ | ९ |
| आसन | | | ६२ | २१ | औपचारिक | ... | | ३२ | ८ |
| | | | | | | | | | |
| इन्द्रिय | ... | | ३७ | ८ | कथा | | | २४ | ९ |
| | | | | | करण | ... | ... | ४ | ६ |
| ईश्वर | | ... | ७९ | ७ | करणत्व | | | ६८ | २८ |
| | | | | | कर्तृत्व | | | ६७ | ४ |
| उत्तरकाण्ड | | | २७ | ८ | " | | | ६८ | २७ |
| उदहरण | ... | ... | २० | ७ | कर्मन् | | ... | ३४ | १२ |
| उद्देश | | | ३ | २३ | कर्मयोग | | ... | ६२ | १ |
| उन्नति | ... | | ६० | १५ | कर्मेन्द्रिय | ... | | ३८ | ७ |
| उपनय | | | २० | १० | कला | | ... | १० | १७ |
| उपबृंहण | | ... | २९ | १० | कल्प | | | २८ | ७ |
| उपमान | | ... | २० | ९ | कल्याण | | | ६३ | ४ |
| उपस्थ | ... | | ३९ | ४ | काल | | ... | ४९ | ११ |
| उपादान | ... | ... | ३४ | ८ | कालात्ययापदिष्ट | ... | ... | २२ | ७ |
| " | | | ८१ | १ | काष्ठा | | | १० | १७ |
| उपादानकारण | | ... | ८० | १४ | कुहना | ... | ... | ६० | २२ |
| उपाधि | | ... | १८ | ११ | केवलान्वयिन् | ... | ... | १९ | १९ |
| उपायभक्ति | | ... | ६९ | ८ | केवस्थ | ... | | ७३ | १९ |
| ऊह | ... | | ८ | ४ | क्रिया | | ... | ६३ | ३ |
| | | | | | कोच | ... | | १९ | २६ |

| | | पृ० | पं० | | | पृ० | पं० |
|--------------|------|-----|-----|---------------------|------|-----|-----|
| क्षमा | | ६० | २० | ज्ञानयोग | | ६२ | ५ |
| | ग. | | | ज्ञानेन्द्रिय | | ३७ | ९ |
| गन्ध | | ९४ | ९ | ज्योतिष | | २८ | ८ |
| गन्धतन्मात्र | | ४२ | १८ | | त. | | |
| गान्धर्व | | ३१ | ५ | तन्मात्र ... | | ४० | ४ |
| गार्भार्य | | ६१ | ५ | तमस् ... | | ९१ | ४ |
| गुरुम | | ७५ | २८ | तर्क ... | | २३ | ६ |
| | घ. | | | तितिक्षा | | ६० | १८ |
| घ्राण | | ३८ | १ | तुष्टि ... | | ६० | १४ |
| | च. | | | तृष्णा ... | | ६० | २३ |
| चक्षुस् | | ३७ | १३ | तेजस् ... | | ४२ | १ |
| चतुःषष्टिकला | | ३१ | २१ | " | | ६० | ८ |
| चर्चा | | ६० | २४ | " | | ८५ | ६ |
| चातुर्य ... | | ६१ | १ | त्रिविधपरिच्छेद ... | | ८३ | १० |
| चापल्य ... | | ५९ | २४ | त्वग्निन्द्रिय | | ३८ | २ |
| चिकीर्षा | | ६० | २० | | द. | | |
| चेतनत्व | | ६७ | २३ | दम्भ ... | | ५९ | २४ |
| | छ. | | | दया | | ६० | १७ |
| छल | | २४ | ३ | " | | ६१ | ३ |
| | ज. | | | " | | ६३ | २२ |
| जड | | ३६ | ९ | दर्प ... | | ५९ | २८ |
| जरप | | २४ | १ | ज्ञान ... | | ६३ | २२ |
| जाति | | २४ | ३ | दिवस ... | | ५० | १८ |
| | " | ३५ | १ | दिव्य ... | | ६ | ५ |
| जिगीषा | | ६० | १९ | " | | ४२ | ५ |
| जिघांसा | | ६० | २३ | दुराशा ... | | ६० | २४ |
| जीव | | ६७ | ५ | दुर्मति ... | | ६० | १४ |
| जीवाद्वैत | | ७२ | ७ | दृष्ट ... | | ७७ | १५ |
| जुगुप्सा | | ६० | २१ | दैन्य ... | | ६३ | २५ |
| ज्ञान | | ६० | ७ | द्वय ... | | ३४ | ८ |
| | | ८४ | २९ | " | | ३६ | ६ |
| | | | | " | | ५८ | ५ |

| | पृ० | पं० | | पृ० | पं० | | | | |
|--------------|------|------|----|-----|---------------|------|------|----|----|
| द्रोह | | | ६९ | २९ | पराक्रम | | | ६१ | ३ |
| द्वेष | | | ६९ | २१ | पराभृत्ति | | | ६७ | २२ |
| | | | | | परिसंख्याविधि | ... | | २८ | २६ |
| | | | | | परीक्षा | | | ३ | २४ |
| धर्म | ... | | २७ | २१ | पाणि | | | ३९ | १ |
| धर्मभूतज्ञान | | | ६६ | २ | पाद | | | ३९ | २ |
| धारणा | | | ६२ | २८ | पायु | | | ३९ | ३ |
| धैर्य | | | ९९ | २३ | पारतन्त्र्य | | | ६८ | २८ |
| ॥ | | | ६१ | २ | पुराकल्प | | | २८ | २१ |
| ध्यान | | | ६३ | १३ | पूर्वकाण्ड | | | २७ | ७ |
| | | | | | पृथिवी | | | ४९ | १८ |
| | | | | | प्रकरणसम | | | २२ | ४ |
| निगमन | | | ९० | १३ | प्रकाराद्वैत | | | ७२ | ७ |
| निग्रहस्थान | | | २९ | १ | प्रकार्यद्वैत | | | ७२ | १५ |
| नित्य | | | ७८ | १७ | प्रकृति | | | ३६ | १० |
| नित्यविभूति | | | ९१ | ७ | भतिज्ञा | | | २० | ६ |
| निमित्त | | | ८१ | २ | प्रत्यक्त्व | | | ६७ | ३ |
| ॥ | | | ८१ | ९ | प्रत्यक्ष | | | ४ | १० |
| निमित्तकारण | | | ८० | १५ | प्रत्यभृत्ति | | | ६७ | २३ |
| नियम | | | ६२ | २० | प्रत्याहार | | | ६२ | २९ |
| नियमविधि | | | २८ | २९ | प्रध्वंसामाव | | | ३६ | ४ |
| निरुक्त | | | २८ | ८ | प्रपत्ति | | | ६४ | ९ |
| निर्विकल्पक | | | ९ | ३ | प्रपन्न | | | ७७ | ९ |
| निर्वेद | | | ६० | १२ | प्रभा | | | ४२ | ८ |
| निश्चय | | | २४ | १ | प्रमा | | | ३ | १५ |
| नैरन्तर्य | | | ९९ | १३ | प्रमाण | | | ३ | १३ |
| | | | | | प्रमाद | | | ९१ | १७ |
| | | | | | प्रमेय | | | ३४ | ७ |
| पक्ष | | | १९ | १० | प्रवृत्ति | | | ९१ | १४ |
| पञ्चीकरण | | | ४३ | ६ | प्रागभाव | | | ३६ | ४ |
| पर | | | ८३ | २० | | | | | |
| परकृति | | | २८ | २० | | | | | |
| परमैकान्तिन् | | | ७७ | १३ | | | | | |

| | | पृ० | पं० | | | पृ० | पं० |
|--------------|------|-----|-----|-------------|------|-----|-----|
| प्राण | ... | ४१ | ७ | मुदिता | ... | १० | १९ |
| प्राणायाम | | १२ | २३ | मुमुक्षा | | १० | १७ |
| | फ. | | | मुहूर्त | | १० | १८ |
| फलमक्ति | | ६३ | १० | मैत्री | ... | ३० | १७ |
| | ब. | | | मोक्ष | ... | ७८ | २१ |
| बद्ध | ... | ७१ | ७ | पोह | | १९ | २० |
| बल | ... | ६० | ७ | " | | ९१ | १७ |
| " | | ८१ | ४ | | य. | | |
| बाधितविषयत्व | | १९ | १३ | यजुस् | | २७ | २६ |
| ब्रह्मद्वैत | | ७२ | ११ | यम | | ३२ | १९ |
| | भ. | | | योग | | ३२ | २६ |
| भक्त | | ७६ | २४ | योगरूढि | | ३२ | २८ |
| भक्तियोग | | ६२ | ८ | योग्यता | | ३२ | २१ |
| भरतागम | ... | ३१ | १ | | र. | | |
| भ.वना | | ६० | २२ | रजस् | | ९१ | ३ |
| भूत | ... | ४० | १ | राति | ... | १० | १६ |
| भौम | | ४२ | १ | रस | | ९४ | ४ |
| भ्रम | | १९ | १९ | रसतन्मात्र | | ४२ | १३ |
| | म. | | | रसनेन्द्रिय | ... | ३८ | १ |
| भद्र | | १९ | २१ | राग | ... | १९ | २१ |
| भनन | | ६४ | २१ | रूढि | ... | ३२ | २७ |
| भनस् | ... | ३७ | १० | रूप | ... | ९३ | ६ |
| भन्त्र | ... | २७ | ११ | रूपतन्मात्र | ... | ४२ | १ |
| भात्सर्ष | | १९ | २२ | | ल. | | |
| भाधुर्य | ... | ६१ | ४ | लक्षण | ... | ३ | २३ |
| भार्दिव | | ६० | १० | लज्जा | | ६० | १८ |
| भास | ... | १० | १७ | लता | | ७१ | २८ |
| भिश्रसन्त्र | | ९० | १ | लोम | ... | १९ | २४ |
| भुक्त | | ७७ | १८ | " | ... | ९१ | १४ |
| भुर्यवृत्ति | | २ | ३७ | | | | |

| | व. | पृ० | पं० | | पृ० | पं० |
|------------------|-----|-----|-----|--------------|-----|-----|
| | | | | व्याकरण | २८ | ९ |
| वाचु | ... | ३८ | ८ | व्यापक | १८ | ४ |
| वात्सल्य | ... | ६० | १० | व्याप्ति | १८ | ६ |
| वाद | ... | २४ | १ | व्याप्य | १८ | ४ |
| वायु | ... | ४१ | ३ | व्यूह | ८४ | ७ |
| वासना | ... | ६० | २४ | | | |
| विचारणा | ... | ६० | १९ | शक्ति | ६० | ७ |
| वितण्डा | ... | २४ | २ | " | ८४ | ३० |
| विधि | ... | २८ | १ | " | ९७ | १ |
| विधेयत्व | ... | ४४ | १२ | शब्द | ९१ | ११ |
| " | | ६७ | १४ | शब्दतन्मात्र | ४० | ७ |
| विपक्ष | ... | १९ | १२ | शब्दप्रमाण | २९ | ८ |
| विपरीतज्ञान | ... | ३ | २१ | शरीर | ४४ | ७ |
| विपर्यय | ... | ९९ | १९ | " | ४९ | १ |
| विभव | ... | ८१ | ७ | शान्ति | ६० | १९ |
| विभाग | ... | ९१ | १ | शाब्दज्ञान | २९ | ७ |
| विभुत्व | ... | ८३ | ८ | शिक्षा | २८ | ८ |
| विमोक | ... | ६३ | २ | शिल्प | ३१ | ३ |
| विरक्ति | ... | ६० | १६ | शुद्धसत्त्व | ९१ | १९ |
| विरुद्ध | ... | २१ | १५ | " | ९२ | १ |
| विवेक | ... | ९९ | २० | " | ९० | ४ |
| " | | ६३ | १ | शेषत्व | ४४ | १२ |
| वीरुधु | ... | ७९ | २२ | " | ६७ | ११ |
| वीर्य | ... | ६० | ८ | शौर्य | ६१ | २ |
| " | | ८९ | ९ | श्रद्धा | ६० | २४ |
| वेद | ... | २७ | १८ | श्रात्रं | ६७ | ११ |
| वैश्वानर | ... | ४२ | २० | | | |
| व्यतिरेक | ... | १८ | १९ | संख्या | ९९ | १९ |
| व्यतिरेकव्याप्ति | ... | १९ | ९ | सानेधि | ३२ | २३ |
| व्यवसाय | ... | ९९ | २० | संयोग | ९९ | १ |

| | पृ० | पं० | | पृ० | पं० |
|--------------|-----|-----|----------------|-----|-----|
| संवत्सर | १० | १९ | सामन् | २७ | २७ |
| संशय | ३ | १९ | साम्य | ६१ | १ |
| ॥ | ८ | ४ | मायुज्य | ७८ | २२ |
| ॥ | १९ | १८ | सुप्रीति | ६० | १४ |
| संस्थान | ३१ | १३ | सुमति | ६० | १३ |
| संख्याति | १२ | १ | सौशील्य | ६० | ९ |
| सत्त्व | ९० | ३ | सौहार्द | ६० | ११ |
| सत्प्रतिपक्ष | २२ | ६ | स्तम्भ | १९ | २९ |
| सत्य | ६३ | २१ | स्थर्य | ६१ | २ |
| सपक्ष | १९ | ११ | स्पर्श | ९३ | १ |
| सप्तमङ्ग | ६१ | १७ | स्पर्शतन्मात्र | ४१ | २ |
| सप्तीकरण | ४४ | ३ | स्पृहा | ९१ | १६ |
| समाधि | ६३ | ११ | स्मृति | ७ | १ |
| सविकल्पक | १ | ३ | ॥ | १९ | १८ |
| सहकारिकारण | ८० | १६ | स्वयंप्रकाशत्व | ७३ | १९ |
| सहकारिन् | ८१ | २ | स्वयंसिद्ध | ६ | १ |
| साक्षात्त्व | १ | ८ | स्वातन्त्र्य | ६८ | २७ |
| साधनभक्ति | ६३ | ९ | | | |
| साधारण | २२ | २ | हेतु | २० | ७ |
| साध्यभक्ति | ६१ | ६ | हेत्वाभास | २१ | ७ |

इतरान्तर्भूतपदार्थानां वर्णानुक्रमेण सूचीपत्रम् ।

| | पृ० | पं० | | पृ० | पं० |
|---------------|------|-----|----|-----------------|-----------|
| अत्यन्ताभावः | | ८ | ३ | पृथक्त्वम् | ९९ २ |
| अदृष्टम् | | ७९ | ४ | प्रतिभा | ८ ६ |
| अनुपलब्धिः | | ८ | २ | प्रत्यभिज्ञा | ८ १ |
| अपरत्वम् | | ९९ | ३ | प्रयत्नः | ९९ २ |
| अर्थात्तिः | | २३ | ६ | प्रागभावः | ८ ३ |
| इच्छा | | ९९ | २ | भावना | ९८ २ |
| उपमानम् | | २३ | ३ | मेदः | ८ ३ |
| ऊहः | | ८ | ४ | भ्रमः | ८ ७ |
| कर्म | | ३४ | १२ | रतिमात्सर्यादयः | ९९ ८ |
| शुरुत्वम् | | १०० | १ | वादः | २३ ६ |
| ललम् | | २३ | ६ | विनण्डा | २३ ६ |
| जरूपः | | २३ | ६ | विभागः | ९९ १ |
| जातिः | | २३ | ६ | विशेषः | ३९ ३ |
| समः | | ४३ | २ | वेगः | ९९ १ |
| तर्कः | | २६ | ६ | संख्या | ९९ ४ |
| दिक् | | ४० | १२ | संशयः | ८ ४ |
| दुःखम् | | ९९ | २ | समवायः | ३९ २ |
| द्रवत्वम् | | ९९ | ४ | सामान्यम् | ३९ १ |
| द्वेषः | | ९९ | २ | सुखम् | ९९ २ |
| ध्वंसः | | ८ | ३ | स्थितिस्थापकः | ९९ १ |
| निग्रहस्थानम् | | २३ | ६ | स्रेहः | ९९ ४ |
| परत्वम् | | ९९ | ३ | स्मृतिः | ७ ३ |
| परिमाणम् | | ९९ | ४ | | |



I 30000 10000 10000 10000

| № | Ср | Ср | Ср | Ср | Ср | Ср | Ср | Ср | Ср |
|----|----|-----|-----|-----|-----|-----|-----|-----|-----|
| 1 | 22 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 2 | 2 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 3 | 2 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 4 | 22 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 5 | 2 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 6 | 22 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 7 | 2 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 8 | 2 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 9 | 2 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 10 | 22 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 11 | 2 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 12 | 22 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 13 | 2 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 14 | 22 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 15 | 2 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 16 | 22 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 17 | 2 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 18 | 22 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 19 | 2 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 20 | 22 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 21 | 2 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 22 | 22 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 23 | 2 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 24 | 22 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 25 | 2 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 26 | 22 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 27 | 2 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 28 | 22 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 29 | 2 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 30 | 22 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 31 | 2 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 32 | 22 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 33 | 2 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 34 | 22 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 35 | 2 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 36 | 22 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 37 | 2 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 38 | 22 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 39 | 2 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 40 | 22 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 41 | 2 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 42 | 22 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 43 | 2 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 44 | 22 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 45 | 2 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 46 | 22 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 47 | 2 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 48 | 22 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 49 | 2 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |
| 50 | 22 | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... | ... |

